उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-09

रीडर

आधुनिक गद्य

I-उपन्यास : स्वरूप और विकास

उपन्यास-सिद्धांत-विवेचना

(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
जवरीमल्ल पारख

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. असगर वजाहत	संकाय सदस्य
प्रो. गोपाल राय	प्रो. बी.र. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. नित्यानंद तिवारी	प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. निर्मला जैन	प्रो. रीता रानी पालीवाल
प्रो. मैनेजर पांडेय	डॉ. सत्यकाम
प्रो. ललिताम्बा	डॉ. राकेश वत्स
प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र	डॉ. शत्रुघ्न कुमार
	डॉ. विमल खांडेकर
	श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
	प्रो. जवरीमल्ल पारख (पाठ्यक्रम संयोजक)

निर्माण सहयोग

श्री कुलवंत सिंह	सचिवालयी सहयोग एवं
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)	कैमरा रेड्डी कॉपी निर्माण
	श्री नरेश कुमार

फरवरी, 2004 (पुनः मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त **विश्वविद्यालय** 2002

ISBN- 81 - 266 - 0588 - X

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस ***कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त*** विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में ***मिमियोग्राफ*** (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से *डॉ अरुण कुमार गुप्ता, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित 2019*
मुद्रक चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0, इलाहाबाद, 42/7जवाहर लाल नेहरू रोड, प्रयागराज , 211002

विवरणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका 4

भाग-1 : उपन्यास : विश्व परिदृश्य

1. उपन्यास और वास्तविकता : रैल्फ फॉक्स 13
2. उपन्यास : महाकाव्य के रूप में : रैल्फ फॉक्स 25
3. महाकाव्य और उपन्यास : जार्ज लुकाच 39
4. उपन्यास का आंतरिक रूप : जार्ज लुकाच 55
5. आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार : रेंने वेलेक और आस्टिन वारेन 71
6 आज का समय, उपन्यास और पाठक : सुरेन गेसुर्या 94

भाग-2 : उपन्यास : भारतीय परिदृश्य

1. उपन्यास : रामचंद्र शुक्ल 104
2. उपन्यास-रचना : प्रेमचंद 109
3. प्रबंधकाव्य, रोमांस और उपन्यास : देवराज उपाध्याय 119
4. उपन्यास और कहानी : हजारीप्रसाद द्विवेदी 130
5. आधुनिक उपन्यास की पृष्ठभूमि : अज्ञेय 162
6. आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण : अज्ञेय 173
7. उपन्यास की भारतीय विधा : अज्ञेय 182
8. उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म : निर्मल वर्मा 187
9. 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' और भारतीय उपन्यास : नामवर सिंह 201
10. संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास : निर्मल वर्मा 211
11. ऐतिहासिक उपन्यास : देवीशंकर अवस्थी 224

आभार

इस पुस्तक में संग्रहीत रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने हेतु लेखकों, प्रकाशकों और कापीराइट धारकों के प्रति इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय आभार व्यक्त करता है।

जोड़कर देखते हैं इसलिए उनका विश्लेषण यूरोप में होने वाले पूंजीवादी विकास के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। भारतीय संदर्भ में इन लेखों का महत्व यह है कि उपन्यास का आगमन भारत में भी यूरोप से ही हुआ है और उद्योगीकरण, मध्य वर्ग का उदय, शहरीकरण, आदि का जो प्रभाव उपन्यास विधा के विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण है उसे हम भारतीय संदर्भ में भी देख सकते हैं। रैल्फ फॉक्स के दूसरे लेख 'उपन्यास महाकाव्य के रूप में' में मुख्य विषय उपन्यास और महाकाव्य की तुलना है। महाकाव्य आधुनिक-पूर्व युगों की एक महत्वपूर्ण विधा है लेकिन पूँजीवाद के उदय के साथ-साथ इस विधा का लोप होने लगा और महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया। रैल्फ फॉक्स के अनुसार उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है। इसलिए महाकाव्य के साथ उपन्यास की तुलना का एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि किस तरह दो भिन्न विधाएँ दो भिन्न-भिन्न युगों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

उपन्यास की महाकाव्यात्मकता पर प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक और आलोचक जार्ज लुकाच ने भी विचार किया है। उनकी पुस्तक 'उपन्यास का सिद्धांत' के एक अध्याय 'महाकाव्य और उपन्यास' को इसमें शामिल किया गया है। इसी पुस्तक के एक अन्य अध्याय 'उपन्यास का आंतरिक रूप' को भी शामिल किया गया है जिसमें उपन्यास के संदर्भ में उसकी वस्तु और रूप के बीच द्वंद्वात्मक संबंधों पर विचार किया गया है। इस लेख में जार्ज लुकाच ने उपन्यास विधा को अन्य विधाओं के संदर्भ में भी समझने का प्रयास किया है कि किस तरह उपन्यास का आंतरिक रूप साहित्य की अन्य विधाओं की विशेषताओं को अपने में समाहित किए रहता है।

इसी भाग में रेने वेलेक और आस्टिन वारेन की पुस्तक 'साहित्य सिद्धांत' के एक अध्याय 'आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार' को शामिल किया गया है। लेखक द्वय ने इस अध्याय में आख्यान परंपरा में आख्यानों के कई रूप मिलते हैं कथा, कहानी, इतिहास आदि। उपन्यास इनसे किस रूप में भिन्न हैं और इस विधा का विकास किस तरह होता रहा है यही इस अध्याय का मुख्य विषय है। उपन्यास को यथार्थवादी विधा माना जाता है। लेखक ने यूरोप के प्रसिद्ध उपन्यासकारों के संदर्भ में रोमांटिक और यथार्थवादी

भूमिका

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के मानविकी विद्यापीठ के हिंदी संकाय ने जब दूर शिक्षा माध्यम से एम.ए. हिंदी कार्यक्रम को आरंभ करने का निर्णय लिया, तब इस बात पर गहन विचार किया गया कि एम.ए. स्तर के विद्यार्थियों को अध्ययन सामग्री किन-किन रूपों में पहुँचाई जाए। इस विचार-विमर्श में यह निर्णय लिया गया कि इकाइयों के रूप में जो पाठ दिए जाते हैं इनके अतिरिक्त ऐसी सामग्री भी विद्यार्थियों को उपलब्ध कराई जाए जो पहले से प्रकाशित हो और जिन्हें विद्यार्थियों को अवश्य पढ़ना चाहिए। मुक्त विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए ऐसी सामग्री प्राप्त करना आसान नहीं होता इसलिए यह तय किया गया कि प्रत्येक पाठ्यक्रम के साथ इस तरह की महत्वपूर्ण सामग्री पुस्तकाकार रूप में विद्यार्थियों को उपलब्ध कराई जाए। इसी क्रम में यह पुस्तक एम.एच.डी.-13 के पाठ्यक्रम के लिए तैयार की गई है। इस पाठ्यक्रम के विद्यार्थियों ने इस पुस्तक से पूर्व 20 इकाइयों को भी पढ़ा होगा जो 5 खंडों में विद्यार्थियों को भेजी गई हैं।

'उपन्यास-सिद्धांत-विवेचना' नामक ये पुस्तक दो भागों में विभाजित है। भाग-1 'उपन्यास : विश्व परिदृश्य' के अंतर्गत रैल्फ फॉक्स, जार्ज लुकाच, रेने वेलेक, आस्टिन वारेन जैसे महत्वपूर्ण सिद्धांतकारों के लेखों को या पुस्तकांशों को शामिल किया गया है जिसमें उन्होंने उपन्यास के सिद्धांत पक्ष पर गहराई से विचार किया है। रैल्फ फॉक्स की पुस्तक 'उपन्यास और लोकजीवन' जो उपन्यास के सिद्धांत पक्ष पर एक अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक है, से दो अध्याय यहाँ दिए जा रहे हैं – 'उपन्यास और वास्तविकता' और 'उपन्यास महाकाव्य के रूप में'। रैल्फ फॉक्स उपन्यास को आधुनिक बुर्जुआ समाज का महाकाव्य मानते हैं। उनका विचार है कि 'उपन्यास बुर्जुआ साहित्य की न केवल प्रतिनिधि उपज है, बल्कि उसकी श्रेष्ठतम रचना भी है।' रैल्फ फॉक्स ने उन परिस्थितियों और आरंभिक उपन्यासों पर विस्तार से विचार किया है जिन्होंने यूरोप में उपन्यास साहित्य के विकास पर गहराई से प्रभाव डाला था। रैल्फ फॉक्स उपन्यास को पूँजीवाद के विकास के साथ

रचनाओं की भिन्नता पर भी विचार किया है। इस भाग के अंत में रूसी आलोचक सुरैन गेसुयाँ का एक लेख शामिल किया गया है जिसमें उपन्यास को लेकर चलने वाली बहसों का हवाला दिया गया है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ और दूसरे देशों के प्रगतिशील रचनाकारों में यथार्थवाद को लेकर खास तौर पर उपन्यास के संदर्भ में यथार्थवाद को लेकर गंभीर बहसें चलती रही हैं। यथार्थवाद के विभिन्न रूपों और उनके बीच की भिन्नता को लेकर होने वाली इन बहसों में उपन्यास विधा पर विचार शामिल रहा है। इस दृष्टि से यह लेख अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इस भाग के सभी लेख विदेशी आलोचकों द्वारा लिखे गए हैं और इनमें दिए गए उदाहरण भी यूरोपीय और अमरीकी उपन्यास लेखकों और आलोचकों के हैं इनमें कुछ उपन्यासकारों और उपन्यासों के बारे में आपने इसी पाठ्यक्रम के खंड-3 की इकाइयों में जानकारी प्राप्त की होगी। उपन्यास के विस्तृत अध्याय में आपको इनके हवाले और जगह भी प्राप्त होंगे। इनके अध्ययन से उपन्यास विधा की विशेषताओं और विश्व उपन्यास साहित्य के विकास को समझने में मदद मिलेगी ऐसी आशा है।

दूसरे भाग में हमने हिंदी के प्रमुख उपन्यासकारों और आलोचकों की रचनाओं को शामिल किया है। इनमें प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, देवराज उपाध्याय, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी शामिल हैं। इन निबंधों और पुस्तकांशों में उपन्यास के विभिन्न पक्षों पर हिंदी, भारतीय और विश्व साहित्य के संदर्भ में विचार किया गया है।

इस भाग में पहला लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल का है। 'उपन्यास' नामक इस लेख में शुक्लजी ने ऐतिहासिक आख्यान और उपन्यास के बीच के अंतर पर विचार किया है। उपन्यास के संदर्भ में इतिहास का सवाल बार-बार उठता रहा है। इसी भाग के अंतिम लेख में देवीशंकर अवस्थी ने भी इस पक्ष पर विचार किया है। उपन्यास में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों को प्रस्तुत किया जा सकता है। अतीत को प्रस्तुत करते हुए उपन्यास इतिहास से किस रूप में भिन्न होता है इसको समझते हुए हम उपन्यास और यथार्थ के संबंधों को भी समझ सकते हैं।

उपन्यास के संदर्भ में यथार्थ का सवाल हमेशा से महत्वपूर्ण रहा है। प्रेमचंद के सामने यह सवाल आदर्श और यथार्थ के बीच चुनाव के रूप में मौजूद था जबकि बाद के लेखकों के लिए उपन्यास एक यथार्थवादी विधा ही थी। लेकिन यथार्थवाद की परिभाषा अलग-अलग लेखकों के लिए अलग-अलग थी। उपन्यास विधा के बारे में प्रेमचंद , हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय और निर्मल वर्मा के विचारों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपन्यास में यथार्थ की अभिव्यक्ति के बारे में इन रचनाकारों के विचार किस तरह एक-दूसरे से अलग हैं और यह भिन्नता किस वजह से है।

इस दूसरे भाग में भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर भी सामग्री दी गई है। **इस मुद्दे पर** अज्ञेय, निर्मल वर्मा और नामवर सिंह के लेख शामिल किए गए हैं। उपन्यास एक पश्चिमी विधा है। भारतीयों ने इसे अंग्रेज़ी के माध्यम से अपनाया। अंग्रेज़ी में लिखे गए या अनूदित हुए यूरोपीय उपन्यास आरंभिक उपन्यासकारों को पढ़ने को मिले थे। उन्हीं से प्रेरित होकर उन्नीसवीं सदी के भारतीय लेखकों ने उपन्यासों की रचना की। लेकिन प्रश्न यह है कि उपन्यास की रचना करते हुए इन उपन्यासकारों ने क्या इस यूरोपीय विधा को यथावत् अपना लिया या उसे भारतीय ज़रूरतों के अनुसार रूपांतरित किया। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा और नामवर सिंह के विचार एक-दूसरे से काफी अलग हैं। भारतीय उपन्यास की अवधारणा के बारे में इन अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद इस बात को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उपन्यास एक अ-भारतीय विधा होते हुए भी अब तक का इसका विकास यह बताता है कि इसे भारतीय जीवन के अनुभवों और यथार्थ की अपनी विशिष्टताओं के साथ सफलतपपूर्वक अभिव्यक्त किया जा सकता है।

इस भाग में कुछ आलेखों में उपन्यास के आंतरिक स्वरूप पर भी विचार किया गया है। देवराज उपाध्याय के आलेख 'प्रबंधकाव्य रोमांस और उपन्यास', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'उपन्यास और कहानी', निर्मला वर्मा के 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म' और अज्ञेय के 'आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण' में उपन्यास के इसी आंतरिक स्वरूप की विवेचना की गई है। उपन्यास का विकास किस तरह हुआ? उपन्यास और कहानी में क्या

अंतर है और उपन्यास के बारे में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण क्या हैं, इस पर इन लेखों में रोशनी डाली गई है।

इस पुस्तक में कुल 16 निबंध शामिल किए गए हैं। खास तौर पर उपन्यास के सैद्धांतिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाले लेख ही इसमें लिए गए हैं। विश्व उपन्यास साहित्य, भारतीय उपन्यास साहित्य और हिंदी उपन्यास साहित्य के विकास पर प्रकाश डालने वाले लेख इसमें नहीं हैं। इसका कारण यही है कि इस पाठ्यक्रम के खंड-3, 4 और 5 में इन पर विचार किया गया है और हम उम्मीद करते हैं कि उससे आपको उपन्यास साहित्य के विकास का ऐतिहासिक परिदृश्य समझने में मदद मिलेगी। उपन्यास विधा के तत्वों और उसके अन्य सैद्धांतिक पक्षों को समझना ज्यादा क्लिष्ट काम है और इसीलिए हमने पहले दो खंडों में दी गई सामग्री के अलावा भी 'विवेचना' में इसी पर अधिक सामग्री दी है।

आशा करते हैं कि पाठ्यक्रम के सभी खंडों और इस 'विवेचना' पुस्तक को पढ़कर इस पाठ्यक्रम को समझने में आपको मदद मिलेगी।

शुभकामनाओं के साथ!

जवरीमल्ल पारख

भाग-एक

उपन्यास : विश्व परिदृश्य

1. उपन्यास और वास्तविकता

रैल्फ फॉक्स

उपन्यास और महाकाव्य के बीच अक्सर तुलना की जाती है। उपन्यास हमारे आधुनिक, बुर्जुआ समाज का महाकाव्य है। कला के इस रूप ने अपना पूर्णतम विकास इस समाज की यौवनावस्था में प्राप्त किया, और ऐसा लगता है कि हमारे समय में बुर्जुआ समाज के ह्रास ने उसे भी ग्रस लिया है। फील्डिंग ने अपने 'वीरतापूर्ण ऐतिहासिक, गद्यमय काव्य' **टौम जोन्स** के प्राक्कथन में आधुनिक उपन्यास के महाकाव्यगत उद्‌भव और भूमिका की घोषणा की थी, किंतु कोई भी आलोचक इतनी कुरुचि का परिचय नहीं देगा कि समसामयिक उपन्यासों की भारी बहुसंख्या को वह महाकाव्यगत गुणों से युक्त कहे, हालाँकि उपन्यासों की इस बाढ़ में भी **युलिसेस** और **स्वांस वे** में शायद हम अपने **हेनरियाद** अथवा अपने **इडिल्स ऑफ दी किंग** की झलक पा सकते हैं।[1]

हम यहाँ तक कह सकते हैं कि उपन्यास बुर्जुआ साहित्य की न केवल सबसे प्रतिनिधि उपज है, बल्कि उसकी श्रेष्ठतम रचना भी है। यह कला का एक नया रूप है। आधुनिक सभ्यता – जिसका प्रारंभ रैनैसां काल से होता है – से पहले इसका अस्तित्व नहीं था, अगर था भी तो अत्यंत प्राथमिक रूप में था। और हर नये कला-रूप की भाँति मानवीय चेतना का विस्तार करने तथा उसे गहरा बनाने का अपना उद्देश्य यह भी पूरा कर चुका है। तो क्या हमारी

सभ्यता के अंत के साथ यह भी खत्म हो जायेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे प्राचीन समाज के साथ महाकाव्य का अंत हो गया था? किंतु महाकाव्य ने **शंशों दा जेस्ट** में फिर जन्म लिया, और जब वह उस समाज के साथ **विलीन** हो गया जिसने कि उसे जन्म दिया था तो उपन्यास ने पदार्पण किया। अनुप्राणित तो इसे भी महाकाव्य ने ही किया था, किंतु इसका लक्ष्य था नये मानव की आवश्यकताओं को पूरा करना, उसकी आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करना तथा विभाषिका है जो जहाज और उस पर लदे माल को खतरे में डाल देती है, पुरुष समुद्री लुटेरे और बागी हैं – अपने साथियों के प्रति क्रूर और निर्मम। किंतु क्रूसो का आत्म-विश्वास, उसका अनगढ़ आशावाद, उसकी मदद करते हैं, और वह एक तरफ जहाँ जान-माल को खतरे में डालने वाली अपनी मूर्खता, प्रकृति की क्रूरता तथा अपन साथी-पुरुषों की पाशविक शत्रुता पर विजय पाने में सफल होता है, वहाँ समुद्रों के पार वह अपनी आदर्श बस्ती भी बसा लेता है।

कुलीन वर्ग के एक रूसी जलावतन को उसने अपनी कहानी सुनायी कि : 'किस प्रकार मैंने उस द्वीप में जीवन बिताया, और किस प्रकार मैंने अपनी और अपने आधीन लोगों की व्यवस्था की, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि मेरी डायरी में दर्ज है। उन्हें मेरी कहानी बहुत पसंद आयी, विशेषकर राजकुमार को जिसने एक आह भरते हुए मुझे बताया कि जीवन की सच्ची महानता खुद अपना मालिक बनने में है।' इस प्रकार क्रूसो की लम्बी यात्रा का – जो स्वयं अपना मालिक बना – अन्त होता है। इथाका लौटने और विश्वसाघाती प्रेमियों के साथ युद्ध में, और धैर्यमयी पेनिलोप[2] और बुद्धिमान तेलेमाकस[3] द्वारा स्वागत में, इसका अन्त नहीं होता। इसका अन्त होता है साइबेरिया के लिए उसकी अंतिम यात्रा और फिर एल्ब.तट पर उसकी वापसी में।

'यहाँ मेरे साझीदार को और मुझे अपने माल के लिए बहुत अच्छा बाज़ार मिला। चीन का माल भी खूब बिका। और साइबेरिया की रोएदार खालें आदि भी; और माल का बँटवारा करने पर मेरे हिस्से में तीन हजार चार सौ पिछत्तर पौण्ड, सात शिलिंग और तीन पेन्स आये। इसमें करीब छः सौ पौण्ड मूल्य के हीरे भी शामिल हैं जिन्हें मैंने बंगाल में खरीदा था। रौबिन्सन का जीवन,

ओडिसियस के जीवन की भाँति, एक विचित्र यात्रा का वृत्तांत है, और ओडिसियस की भाँति ही 'अवकाश प्राप्ति तथा शांति के साथ शेष दिन बिताने के वरदान' के रूप में इसका अन्त होता है। किंतु ओडिसियस का सम्पूर्ण लक्ष्य ट्राय में युद्ध से अपने द्वीप की ओर – अपने घर की ओर – लौटना है, जब कि रौबिन्सन की यात्रा का सम्पूर्ण महत्व उसकी वापसी में नहीं, बल्कि उसके घर से प्रस्थान में निहित है। वह साम्राज्य-निर्माता है, एक ऐसा आदमी है जो प्रकृति को ललकारता और उस पर विजय प्राप्त करता है। अपने पुरस्कार का, एक-एक पाई का वह हिसाब रखता है, और यह कमाई भी जायज कमाई है।

अठारहवीं शताब्दी के समूचे दौरान में रौबिन्सन क्रूसो ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन में एक आधार का काम दिया। इतना ही नहीं। उसकी ध्वनि अब भी जोन स्टुअर्ट मिल की रचनाओं में सुनी जा सकती है। नये पूंजीपति वर्ग को उसका गायक मिल गया, एक ऐसा गायक जो काहिल नहीं था, और न उसकी गाथा ही कोई थोथी गाथा थी। मानव के जीवन में वह एक नये युग के प्रवेश द्वार पर खड़ा था, जब कि दो शताब्दियों के दौरान में दुनिया को अपनी सबसे मुकम्मिल कायापलट में से होकर गुजरना था और इन्सान खुद प्राचीन कवियों के सपनों – हवा में उड़ने, सात मील लम्बे डगों से धरती को नापने, समुद्र की सतह और उसकी गहराइयों पर काबू पाने के सपनों को – पूरा करने वाला था। इन सपनों को पूरा करने के दौरान मानव ने स्वयं अपनी भी कायापलट की और महान संस्कृतियों को नष्ट किया, मानव और मानव के संबंधों को भ्रष्ट किया, बौद्धिक जीवन को कोयले या बूट-पालिश के व्यापार से भी नीचा दर्जा दिया, और मानवीय जीवन के असली चरित्र को ढोंग के इतने मोटे नकाब से ढंक दिया कि जिसकी मिसाल मानवीय संबंधों के इतिहास में ढूंढ़े नहीं मिलेगी।

पूंजीवादी समाज के विकास ने कलाकार की स्थिति को उस स्थिति से सर्वथा भिन्न बना दिया जो कि उसे पहले की सभी समाज-व्यवस्थाओं में प्राप्त थी। अपने प्रारंभिक काल में रेनैसां से लेकर अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक, यह बात इतनी प्रत्यक्ष नहीं थी। लेखक के तब तक मानव को

उसके असली रूप में देखने की स्वतन्त्रता थी, वह उसका सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकता था और वर्तमान तथा मध्यकालीन अतीत की आलोचना करने की भी उसे छूट थी। संक्षेप में यह कि जिस पूंजीवाद ने एक पद्धति के रूप में यथार्थवाद को जन्म दिया और उपन्यास की शक्ल में उसे पूर्ण रूप दिया, मानव को कला का जिसने केंद्र बनाया, उसी पूंजीवाद ने अन्त में उन परिस्थितियों को नष्ट भी कर दिया जिनमें कि यथार्थवाद पनप सकता था और मानव के लिए अब कला के क्षेत्र में, खास तौर से उपन्यास के क्षेत्र में, केवल पंगु या विकृत रूप में ही प्रवेश करने की गुंजाइश छोड़ी। 1857 में फ्लौबर्ट पर अश्लीलता के मुकदमे का उल्लेख करते हुए थियोफिल गौतिये ने इस परिस्थिति का सारतत्व इन शब्दों में रख दिया : 'सचमुच, अपने इस धंधे पर मुझे लज्जा आती है! उन बहुत ही मामूली रकमों के बदले में जो कि मैं कमाता हूँ – अगर ऐसा न करूं तो भूखों मरना पड़ जाए – मैं जो कुछ सोचता हूँ उसका केवल आधा या चौथा भाग ही कह पाता हूँ...इस पर भी हर वाक्य पर यह सांसत जान को लगी रहती है कि कहीं अदालत के सामने न घिसटना पड़े।' **जोनाथन वाइल्ड** से लेकर फ्लौबर्ट के मुकंद्मे और गौतिये की कटु टिप्पणी तक ले-देकर केवल एक शताब्दी से कुछ साल अधिक बीते होंगे, किंतु इस अवधि में ही क्या-से-क्या हो गया!

पूंजीवाद के विकास, खास तौर से श्रम के बारी-से-बारीक विभाजन और मशीन-उद्योग की स्थापना के बाद मानव द्वारा मानव के बढ़ते हुए शोषण तथा स्वतंत्र उत्पादकों के – चाहे वे खेतिहर हों या दस्तकार – धंधों के खात्मे के साथ एक ओर तो कला को एक आम ह्रास ने ग्रस लिया, ऐसी कोई भी चीज उस कला ने पैदा नहीं की जो रेनैसां काल की कृतियों की – उस काल की महान् कृतियों की जो कि सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर सन्तरण का काल और जिसमें व्यक्ति ने अपने जीने का अधिकार जीता – अथवा ग्रीस या रोम के दास-समाजों, या चीन के पूर्वीय सामन्तवाद की उतनी ही महान कृतियों की बराबरी कर सकती। दूसरी ओर यह हुआ कि इसने व्यक्ति और समाज के बीच देखने में हल न होने वाले द्वन्द्व से दबे और कुचले हुए कलाकार को भी पतन के गड्डे में डाल दिया।

पहले के सामाजिक संबंधों को नष्ट करने में बुर्जुआ वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका का वर्णन करते हुए सांस्कृतिक जीवन में इस ह्रास के असली कारणों को मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र** में बताया है। उन्होंने लिखा है :

> 'बुर्जुआ वर्ग ने, जहाँ कहीं भी उसकी चल निकली, तमाम सामन्ती, पितृसत्तात्मक और नैसर्गिक संबंधों का खात्मा कर दिया है। बिना किसी लिहाज के उसने उन चित्र-विचित्र सामन्ती नातों को तोड़ फेंका है जो मानव को उसके 'सहज बड़ों' से बाँधे थे, और नंगे स्वार्थ तथा हृदयहीन 'नगद भुगतान' के सिवा मानव और मानव के बीच अन्य कोई बंधन बाकी नहीं छोड़ा है। धार्मिक तन्मयता के परम स्वर्गिक आनंद को, शूरवीरों के उत्साह और मूढ़ों के भावुकतापूर्ण आल्हाद को, इसने अहमवादी मोल-भाव के बर्फीले पानी में डुबो दिया है। व्यक्ति की कदर को इसने विनिमय मूल्य में बदल दिया है और अनगिनत अत्याज्य अधिकृत आजादियों के स्थान पर उन्मुक्त व्यापार की एक अकेली बेलाग आजादी को स्थापित कर दिया है। एक शब्द में, धार्मिक तथा राजनीतिक भ्रमों से ढके शोषण की जगह इसने नंगे, निर्लज्ज, सीधे और बर्बर शोषण को स्थापित कर दिया है।
>
> 'बुर्जुआ वर्ग ने, हर उस धंधे को जिसे अब तक सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था, श्रीविहीन करके रख दिया है। डाक्टर को, वकील को, पुजारी को, कवि और वैज्ञानिक को, अपने पगार-भोगी मज़दूर के रूप में इसने परिवर्तित कर दिया है।'[4]

इस प्रकार, लाखों छोटे उत्पादकों को सम्पत्ति-विहीन बनाकर, सबको समरूप बनाने की भीमाकार क्रिया पूंजीवाद ने सम्पन्न की है। और समरूपीकरण की यही प्रकिया सांस्कृतिक संबंधों के क्षेत्र में भी लायी गयी है। जिस व्यक्ति की श्रम-शक्ति, बिकाऊ माल का रूप धारण कर लेती है, उसका नैतिक या कलात्मक मूल्य खो जाता है और चूंकि माल का विनिमय सभी चीज़ों को समरूप बना देता है इसलिए कला भी एक बिकाऊ माल बन जाती है, और उसे ठीक उसकी विपरीत और विरोधी वस्तु के बराबर बना दिया जाता है।

प्राचीन या सामन्ती समाजों में – जहाँ दास या बंधक प्रथा शोषण के रूप थे और इन्हीं पर वे आधारित थीं – व्यक्तिगत संबंध अधिक प्रत्यक्ष थे, आदमियों की एक दूसरे पर निर्भरता सीधी थी और निजी थी, श्रम का विभाजन सीधा-सादा था और व्यक्ति अपनी दस्तकारी के काम में अपने-आपको सीधे तौर पर व्यक्त कर सकता था। इन समाजों की कला में एक ऐसी ताजगी और ऐसी ताकत थी जो कि अब अधिकांशतः लुप्त हो चुकी है।

रस्किन[5] और विल्यम मौरिस[6] इस बात को समझते थे, किंतु उनका यह सोचना निहायत गलत था कि पूंजीवादी समाज के आधार – व्यक्तिगत सम्पत्ति – के क्रांतिकारी विनाश का रास्ता अपनाने के बजाय मध्यकालीन संसार में लौटने से उस ताजगी को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में, मार्क्स के प्रभाव में आकर मौरिस ने इस गलती से अपना पीछा छुड़ाना शुरू किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के सृजनात्मक कलाकारों की पूंजी के केंद्रीकरण से उत्पन्न मानव-संबंधों का नया, अपनत्वहीन रूप बुरी तरह अखरता था। इतनी ही बुरी तरह वह यह अनुभव करते थे कि पूंजीवादी बाजार ने उनकी कृतियों को भी एक ही तराजू से तोली जाने वाली वस्तु बना दिया है। धन सभी चीज़ों को बराबर कर देता है – माइकेल एंजेलो की एक कृति को यदि कोई ऐसा करोड़पति खरीदे जिसने तेल या साबुन जैसी उपयोगी और घरेलू वस्तुओं के व्यापार से अपनी दौलत जुटाई है, तो वह उसे तेल या साबुन की एक मिकदार के बराबर, और शेक्सपीयर के नाटक को खाद की एक विशेष मात्रा के बराबर बना देता है; यदि वह नाटक इंपीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज के किसी भागीदार के दान से वेस्ट एण्ड में दिखाया जा रहा हो। उन्नीसवीं शताब्दी का उपन्यासकार नये बुर्जुआ वर्ग के प्रति बनैली घृणा के साथ इस सीधे समरूपीकरण का विरोध करता था। किंतु इस घृणा ने उसकी दृष्टि को सीमित कर दिया और वह नये समाज के कुछ सकारात्मक पहलुओं को न देख सका।

आधुनिक लखपति और उस वर्ग में उसकी छवि जिसका कि वह सिरमौर है, केवल विज्ञान के विकास की बदौलत ही संभव हो सके हैं। विज्ञान उनके लिए लाभदायक है, फलतः अपनी ओर से वे उसके विकास में मदद देते हैं। विज्ञान के इस विकास में तथा नयी दुनिया के अन्वेषकों के सेवार्पित जीवन में – फैराडे, पास्चर और क्यूरी में – हमारे युग की वास्तविक कवित निहित है तथा हमारे समय के सच्चे वीर मिलते हैं। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी का उपन्यासकार बुर्जुआ दुनिया से, जिसमें कि वह रहता था, झंझोड़ा हुआ, 1848 में फ्रांस की क्रांति के महान् सपनों के अंतिम रूप से चूर-चूर हो जाने के फलस्वरूप निराश और मज़दूर वर्ग के उदय से भयभीत यह नहीं देख पाता। लेखकों के इस रवैये के एक प्रतिनिधि उदाहरण के रूप में गौन्कोर्ट बंधुओं का उल्लेख किया जा सकता है। 1857 की अपनी डायरी में उन्होंने लिखा था :

'धोखाधड़ी में विज्ञान के क्षेत्र तक में इस शताब्दी को कोई मात नहीं कर सकता। वर्षों से रसायन और भौतिक विज्ञान के बिलबौके[7] हर सुबह, नये चमत्कार, तत्त्व या नयी धातु का वादा करते हैं, गंभीरता के साथ पानी में ताम्बे की प्लेटों से हमें गरमाने, हमारी भूख का प्रबंध करने या किसी चीज़ से हमारी जान लेने और हम सबको शतायु बनाने आदि का बीड़ा उठाते हैं। यह सब एक जबर्दस्त धोखा है जिसका उद्देश्य है इन्स्टीच्यूट[8] में गद्दी-नशीन होना, पुरस्कार, पदक और पेन्शनें पाना तथा सम्मान एवं ख्याति हासिल करना। और एक तरफ जहाँ यह सब कुछ हो रहा है, वहाँ महँगाई दुगनी, तिगनी, दस गुनी बढ़ती जा रही है – पोषण की सामग्रियाँ या तो मिलती नहीं और यदि मिलती भी हैं तो रद्दी किस्म की, यहाँ तक कि युद्ध में मृत्यु भी प्रगति करती नज़र नहीं आती (सेवास्तोपोल में यह बात स्पष्ट हो गयी थी), और जिसे हम अच्छा सौदा समझते हैं वह हमेशा हद दर्जे का बुरा सौदा सिद्ध होता है।'

अस्तु, तब से अब तक वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मौत की दिशा में वे भारी प्रगति कर सकते हैं, और आजकल वैज्ञानिकों के काम का यह नकारात्मक पहलू ही उपन्यासकार को प्रभावित करता है। किंतु विज्ञान

को जीवन की कायापलट करने वाली एक शक्ति के रूप में, वैज्ञानिक के जीवन और काम के बीच भारी अंतर्विरोध को तथा पूंजीवादी समाज द्वारा उसके उपयोग को आज का उपन्यासकार नहीं देखता। अपनी कला की सामग्री के रूप में वह इनकी लगभग उतनी ही अवहेलना करता है जितनी कि गौन्कोर्ट बन्धु करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के समूचे दौर में हम यह देखते हैं कि कलाकार उस दुनिया को अस्वीकार करने की व्यर्थ चेष्टा में लगा है जो उस पर ऐसे मानदण्ड लादती है जिन्हें वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता। सो इस दुनिया से बचने के लिए कुछ तो अपने काल्पनिक गढ़ में जा बसते हैं और उसके ऊपर 'कला कला के लिए' की रेशमी पताका फहरा देते हैं। यह विचित्र नारा, अगर सच पूछा जाए तो उस सभ्यता को चुनौती देता है जो चाँदी के कुछ सिक्कों के अलावा कला का और कोई मूल्य नहीं मानती। 'कला कला के लिए' का नारा, कला धन के लिए के नारे का एक बहुत निकृष्ट उत्तर है – निकृष्ट इसलिए कि कल्पना किलेबंदी के लिए कभी कारगर सामग्री सिद्ध नहीं हुई है।

गेराडां द नेरवाल[9] की भाँति कुछ आत्महत्या करने पर मजबूर होते हैं। अन्य हताश होकर, अपने ही कृतित्व से इन्कार करना शुरू कर देते हैं। रिम्बौ[10] जो कि पेरिस कम्यून का एक युवक कवि था, जो बुर्जुआ वर्ग से घृणा करता था और जिसने कविता में अनेक क्रांतिकारी प्रयोग किए थे, अबीसीनिया में जाकर अपने-आपको जिंदा दफ़ना देता है और पाशविक सनक के साथ हथियारों और मानव शरीरों तथा अफ्रीका की उन सभी चीजों का व्यापार करने लगता है जिन पर उस समय बुर्जुआ वर्ग की लोलुप निगाहें विशेष रूप से जमी थी। गोगा[11] ताहिती में पोलीनीशियाई आदिवासियों के बीच जा बसता है और अपनी घासफूस की झोंपड़ी को उत्कृष्ट कलाकृतियों से सजाता है, सीजां[12] अपने चित्रों को खन्दक में फेंक देता है, और वान गौ[13] के आखिरी दिन एक पागलखाने में कटते हैं।

किंतु ठीक इसी काल में उनका मित्र और हिमायती एमील जोला, अस्पष्ट किंतु सच्चे मायनों में प्रतिभावान, अंधेरे में टटोलता हुआ प्रकाश की ओर

अग्रसर होता है। और ज्यों-ज्यों वह मज़दूर वर्ग के कठोर और कटु, किंतु उमंग भरे जीवन के निकट पहुंचता है, उसे अपने अंदर एक नयी ज्वाला का आभास होता है। जोला सफल नहीं हो पाता, अपने पूर्वजों के गलत सिद्धांतों के बोझ से दबा हुआ वह उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर, यथातथ्यवाद के घातक तथा यांत्रिक सिद्धांत की रचना करता है। किंतु उसकी यह असफलता भी एक शानदार असफलता है जिससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

कुंजी भी वहीं, पास में ही, मौजूद थी। मार्क्स और एंगेल्स यह दिखा चुके थे कि किस प्रकार पूंजीवाद उन परिस्थितियों को नष्ट करने के साथ-साथ जिनमें कि महान् कला पनप सकती है, ऐसी परिस्थितियों की भी रचना करता है जिनमें कला और भी अधिक ऊंची उठ सकती है – इतनी ऊंची कि जिसका मानव इतिहास में कोई दृष्टांत नहीं मिलता। किंतु पूंजीवाद अपने-आप में इन परिस्थितियों का उपयोग नहीं कर सकता, इस नयी कला को जन्म नहीं दे सकता। इसने तो इतिहास में पहल बार, विश्व कला के लिए, एक विश्व साहित्य के लिए, उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण भर किया है। इसने समूचे विश्व को अपने सांचे में ढाल लिया है, टेकनीक और उत्पादन का इतना विकास किया है कि 'पिछड़ी' हुई और 'उन्नत' जातियों के भेद के बने रहने का अब कोई कारण नहीं रह गया है। **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** के शब्दों में:

> "उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रांतिकारी परिवर्तन, सामाजिक परिस्थितियों में अनवरत उथल-पुथल, स्थायी अनिश्चितता और हलचल – बुर्जुआ युग की यही वे विशिष्टताएँ हैं, जो कि पहले के सभी युगों से उसे भिन्न बना देती हैं। प्राचीन तथा पूज्य कहलाने वाले अंधविश्वासों तथा मतों की श्रृंखला के लिए हुए तमाम स्थिर और जड़ संबंध खत्म कर दिए गए हैं। नये संबंधों को बने देर नहीं होती कि वे पुराने पड़ जाते हैं, उनके रूढ़ होने की नौबत ही नहीं आ पाती। जिन चीज़ों को ठोस समझा जाता था वे हवा में उड़ जाती है; जिन्हे पवित्र माना जाता था, वे भू-लुंठित हो रही हैं; और मानव, आखिरकार, इस बात के लिए बाध्य हो गया है कि वह

अपने जीवन की असली परिस्थितियों तथा दूसरों के साथ अपने संबंधों पर गंभीरता के साथ विचार करे।

'अपने माल के लिए निरंतर बढ़ते हुए बाजार की ज़रूरत के कारण पूंजीपति वर्ग समूचे भूमण्डल की धूल छानता है। वह हर जगह घुसने की, हर जगह पैर जमाने की, और हर जगह संबंध स्थापित करने की कोशिश करता है।

'विश्व मण्डी के शोषण द्वारा पूंजीपति वर्ग ने उत्पादन और खपत को हर देश में एक सार्वभौम रूप दे दिया है। प्रतिक्रियावादी चीखते-चिल्लाते रहे, किंतु उसने उद्योग के पांव के नीचे से उसकी वह राष्ट्रीय ज़मीन ही खिसका दी जिस पर कि वह खड़ा हुआ था। तमाम पुराने स्थापित राष्ट्रीय उद्योग तबाह हो गये या आये दिन तबाह हो रहे हैं। उनकी जगह नये उद्योग ले रहे हैं, जिनकी स्थापना करना सभी सभ्य राष्ट्रों के लिए जीवन-मरण का सवाल बन गया है। ये नये उद्योग अपन देश के कच्चे माल का उपयोग नहीं करते, बल्कि अपने लिए दूर-दूर के प्रदेशों से कच्चा माल मंगाते हैं। इन उद्योगों की तैयार की हुई चीज़ों की केवल घर में ही खपत नहीं होती, बल्कि विश्व के कोने-कोने में वे पहुँचती है। उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी हुई चीज़ों से ही पूरा किया जा सकता था, अब ऐसी नयी-नयी आवश्यकताओं ने ले ली है, जिनको पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मँगाना पड़ता है। पुरानी स्थानीय तथा राष्ट्रीय पृथकता और आत्म-निर्भरता की जगह अब आदान-प्रदान के चौतरफा संबंधों ने, राष्ट्रों के बीच सार्वभौमिक अंतर-निर्भरता ने, ले ली है और भौतिक उत्पादन की ही तरह बौद्धिक उत्पादन में भी यही परिवर्तन हो गया है। व्यक्तिगत राष्ट्रों की बौद्धिक रचनाएँ सामूहिक सम्पत्ति बन गयी हैं। राष्ट्रीय एकांगीपन तथा संकीर्ण दृष्टिकोण अब अधिकाधिक असंभव होते जा रहे हैं, और अननिगनत राष्ट्रीय तथा स्थानीय साहित्यों के बीच से एक विश्व-साहित्य का उदय हो रहा है।"[14]

किंतु यह विश्व साहित्य एक पंगु शिशु है। पूंजीवादी उत्पादन की जिन परिस्थितियों ने इसे जन्म दिया था, वे ही इसके सहज विकास में बाधक हैं। जातीय और राष्ट्रीय विद्वेष, वर्ग शत्रुता, सबल राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों के राष्ट्रीय विकास का बलपूर्वक रोका जाना, यहाँ तक कि यौन हठ और यौन शत्रुता, नगरों और देहातों के बीच विरोध, माल के सामूहिक उत्पादन के परिणामस्वरूप मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच दिन-दिन चौड़ी होती हुई खाई – पूंजीवादी समाज के अंतर-विरोधों से उत्पन्न ये सब चीज़ें विश्व-साहित्य के विकास को अवरुद्ध करती हैं। इससे परिणाम यह निकलता है कि उपन्यासकार की कठिनाइयों का हल हमारे आधुनिक समाज की वास्तविकता को नज़र में रख कर एक क्रांतिकारी ढंग से ही हो सकता है, और केवल मात्र ऐसे हल से ही उसकी कला फिर से महाकाव्य का रूप ग्रहण कर सकती है।

संदर्भ

1. युलिसेस – जेम्स जायस का प्रसिद्ध उपन्यास; स्वान्स वे – प्रूस्त के उपन्यास 'खोए हुए समय की खोज' का दूसरा भाग; हेनरियाद – वाल्तेयर का महाकाव्य; इडिल्स ऑफ दि किंग – राजा आर्थर और उसकी 'गोलमेज' के सामंतों को दंत कथा पर आधारित टेनिसन की काव्य-माला।

2. ओडिसियस की पत्नी।

3. ओडिसियस का पुत्र।

4. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट घोषणापत्र, 1853, पृष्ठ 35.

5. जान रस्किन, अंग्रेजी कला मर्मज्ञ; उस पंथ के नेता जिसक मकसद रफाइल के पूर्व की कला का (अर्थात् आदि-रेनैसां काल क कला का)पुनरुत्थान करना था (1819-1900)।

6 अंग्रेज़ लेखक और कलाकार, "न्यूज़ फ्रॉम नोव्हेयर" नामक उपन्यास के लेखक तथा रफाइल के पूर्व की कला के प्रतिपादकों के एक प्रमुख प्रतिनिधि (1838-1896)।

7. द्यूमर्सन और बारेन द्वारा रचित फ्रांसीसी पुस्तक 'पाखंडी' (1831) का पात्र; चालाक और अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेने वाले व्यक्ति का द्योतक।

8. विज्ञान अकादमी।

9. गरार्डे लाब्रूइन (1818-1855) का उपनाम; रोमांटिक पंथ के कवि, अनेक कविता संग्रहों और साहित्यिक इतिहास पर निबंधों के रचयिता।

10. आर्थर रिम्बौ, (1854-1891) पेरिस कम्यून में भाग लेने वाला फ्रांसीसी कवि। कम्यून के पतन के बाद आचार-भ्रष्ट होकर साहित्य त्याग दिया और अफ्रीका में जाकर व्यापार में जुट गया।

11. पॉल गोगां, (1848-1903) सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी कलाकार, जो अनेक वर्षों तक पूर्व में आकर ताहिती और डोमिनिकन द्वीप-समूह में रहे।

12. पॉल सीज़ां (1839-1906), प्रसिद्ध फ्रांसीसी कलाकार।

13. विन्सेन्ट वान गौ (1853-1890), फ्रांसीसी कलाकार, जिन्होंने पागल होकर आत्महत्या कर ली।

14. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट घोषणापत्र, 1853, पृष्ठ 35-36.

2. उपन्यास : महाकाव्य के रूप में

रैल्फ फॉक्स

इस निबंध की यह मुख्य मान्यता है कि उपन्यास विश्व की कल्पना-प्रसूत संस्कृति को बुर्जुआ अथवा पूंजीवादी सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण देन है। उपन्यास उसकी एक महान् साहसपूर्ण खोज है – मानव की उसके द्वारा खोज है। यहाँ आपत्ति उठायी जा सकती है कि सिनेमा भी तो पूंजीवाद की देन है। यह बात सच है, किंतु केवल टेकनीकल अर्थ में ही, कारण कि पूंजीवाद अभी तक उसे एक कला के रूप में विकसित नहीं कर सका है। नाटक, संगीत, चित्रकारी और मूर्तिकला, इन सबको आधुनिक समाज ने विकसित किया है, चाहे अच्छी दिशा में किया हो या बुरी दिशा में। ये सभी कलाएँ विकास की एक लम्बी मंजिल पार कर चुकी है, और लगभग उतनी ही पुरानी है जितनी कि खुद सभ्यता है, और उनकी मुख्य समस्याएँ भी हल हो चुकी है। किंतु उपन्यास की केवल एक ही समस्या – सो भी सबसे सीधी, यह कि कहानी कैसे कही जाए – अतीत ने हल की है।

इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यासकारों ने एकदम न कुछ से अपनी इमारत खड़ी करनी शुरू की। उनके पास संचित अनुभव की एक पूंजी मौजूद थी, ऐसे अनुभव की पूंजी जिससे हम आज भी लाभ उठा सकते हैं। मध्यकाल का अन्त होते-न-होते इंग्लैण्ड तथा इटली के व्यापारी समुदायों ने आधुनिक पद्धति से कथा कहने वाले पहले किस्सागो पैदा किए। इन किस्सों में पुरुष

तथा स्त्री पात्रों के चरित्रों को, और उनके काम करने के ढंगों को, लगभग उतना ही महत्व दिया जाता था जितना कि उनके कारनामों को। उपन्यासकार की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता – पुरुषों और स्त्रियों को जानने की जिज्ञासा – सवर्प्रथम चौसर और बौकेशियो में प्रकट हुई। हो सकता है कि मेलोरी[1] में भी यह तत्व कुछ दिखायी दे, लेकिन वह चौसर से करीब एक शताब्दी बाद लिख रहा था, और हालांकि गद्य को ही उसने अपना माध्यम बनाया था, लेकिन लगता ऐसा है मानो वह कवि से बहुत पिछड़ा हुआ हो। यह सच है कि उसके लेखन-काल में समाज ह्रास की पूरी अराजकता में डूबा हुआ था, किंतु अंग्रेजी पुरुषों और स्त्रियों का कहीं अधिक सच्चा चित्र (और कहीं-कहीं अच्छा गद्य भी) मेलोरी के मुकाबले में आपको पेस्टन के पत्रों[2] में मिलेगा।

मेलोरी के शूरवीरों और रमणियों में, उनकी गोलमेज और उनके रहस्यवादी सन्त ग्राएल[3] में, उनकी हत्याओं और उनके छरछन्दों में, पूंजीवादी साहित्य के उस अत्यंत विनाशकारी रूप के – रोमांटिसिज्म के – सभी तत्व मिलते हैं। किंतु हम मेलोरी को मध्याकलीन कह कर टालने को तैयार नहीं, जैसे कि स्कौट या शैतोब्रियाँ को हम मध्यकालीन नहीं मानते। मेलोरी भी उतनी ही अच्छी तरह से कहानी कहते हैं जितनी कि स्कौट, और उनकी भावुकता कभी उतनी घिनौनी नही होती जितनी कि शैतोब्रियाँ की, फिर भी वह पहला महान पलायनवादी है, एक ऐसा व्यक्ति जो भयानक और घृणित वर्तमान से भाग कर अपनी भावना के सुनहरे अतीत की शरण लेता है। वास्तविकता को उन्होंने त्याग दिया, बल्कि यूं कहिए कि वास्तविकता का उनके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। चौसर तो जैसे उनके लिए कभी हुआ ही न था, और अगर मेलोरी ने कैण्टरबरी टेल्स को कभी पढ़ा भी हो तो इसमें संदेह नहीं कि उन्हें भोंडा समझ कर नाक सिकोड़ ली होगी। एक तरह से यूफिअस[4] और आर्काडिया[5] उसकी रोमान्टिक परंपरा के अंश थे, जैसे कि फेयरी क्वीन[6] था। कविता या भावपूर्ण गद्य के रूप में उनके गुणों से इन्कार नहीं किया जा सकता, किंतु उन्होने अंग्रेजी कल्पना को कथा के क्षेत्र में पनपने से रोका। किंतु शायद इस बात को अधिक महत्व न देना चाहिए। कारण कि

उस काल में हमारी सारी श्रेष्ठतम राष्ट्रीय प्रतिभा नाटकीय काव्य की रचना में व्यस्त थी। एलिजाबेथ युग ने उल्लेखनीय रूप में उपन्यास को आगे नहीं बढ़ाया, यद्यपि यूफिअस की परंपरा के विरोध में शराबखानों और चोर-उचक्कों की कुछ शानदार कथाएँ इस काल में रची गयीं।

यही बात सत्रहवीं शताब्दी के बारे में भी कही जा सकती है। किंतु यहाँ, मेरी समझ में एक बात ध्यान देने योग्य है। अपनी आत्मकथा में एच.जी. वेल्स ने अनजाने में ऐसे आत्मसमालोचनात्मक विचार प्रकट किये हैं, जिनका अत्यंत गहरा महत्व है। उन्होंने लिखा है – 'चरित्र का विस्तार के साथ अध्ययन एक वयस्क धंधा है, एक दार्शनिक धंधा है। मेरे जीवन का इतना बड़ा हिस्सा एक लम्बी और फैली हुई नाबालिगी में, आमतौर से दुनिया से जूझने में, बीता है कि मैंने अपने जीवन के बाद के वर्षों में ही चरित्रों का मुख्य रूप से अध्ययन करना शुरू किया। मेरे लिए यह आवश्यक था कि पहले मैं उस ढाँचे का पुनर्निर्माण करूं जिसके अंदर व्यक्तियों का पूरा जीवन बीतता है। तभी मैं उसको इस ढाँचे के अंदर फिट बैठाने की व्यक्तिगत समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता था।'

यह सच है कि उपन्यास लेखन एक दार्शनिक धंधा है। विश्व के महान् उपन्यास – डौन क्विगजोट, गारगनतुआ और पान्ताग्रुएल, रौबिन्सन क्रूसो, जोनाथन वाइल्ड, जाक्वे ला फैटेलिस्त,[7] ला रूज ए ला न्यावर[8], युद्ध और शांति, लॉ एजुकेशन सेन्टिमेंटल,[9] वुदरिंग हाइट्स,[10] दि वे ऑफ आल फ्लैश,[11] – ठीक इसीलिए महान् है कि उनमें चिंतन का यह गुण निहित है, कि वे जीवन की अत्यंत भावपूर्ण या यूं कहिए कि प्रेरणापूर्ण टीका है। यही वह गुण है जिससे कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रथम और द्वितीय कोटि की रचनाओं की परख होती है। यह सच है कि अनेक दार्शनिक उपन्यास लिखने में बुरी तरह विफल रहे हैं, किंतु कोई भी उपन्यासकार अपने पात्रों की विशिष्टताओं से सामान्य नतीजे निकालने की उस क्षमता के बिना रचना नहीं कर सका है, जो कि जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण से पैदा होती है।

सत्रहवीं शताब्दी ने महान् उपन्यास नहीं पैदा किये, किंतु उसने उन दार्शनिकों को अवश्य पैदा किया जिनकी बदौलत आगामी शताब्दी की जीतें

संभव हो सकी। जाने क्यों, बरबस कुछ ऐसा अनुभव होता है कि अठारहवीं शताब्दी अंग्रेज़ी कथा साहित्य का इसीलिए सिरमौर है कि वह अंग्रेज़ी दर्शन के सर्वोच्च काल के फौरन बाद आती है। अंग्रेज़ी दर्शन हमारे देश की पूंजीवादी क्रांति का फल था और वह गहरे रूप में भौतिकवादी था। मार्क्स के शब्दों में : 'भौतिकवाद ग्रेट ब्रिटेन की सच्ची संतान है। वह एक इंग्लिश स्कूल मैन – डन्स स्कोउटस – ही था जिसने यह सवाल उठाया था कि 'क्या पदार्थ सोच नही सकता।' बर्कले ने, जो पहला अंग्रेज़ भाववादी था, लौक के एन्द्रियगोचर दर्शन का केवल उल्टा रूप अपनाया। इसी प्रकार स्टर्न ने रैबिले के भौतिकवाद और सर्वेण्टीज की कल्पनाशक्ति पर केवल भावुकता का आवरण चढ़ाकर पेश किया।

उपन्यास के वास्तविक संस्थापक, रैबिले और सर्वेण्टीज, अपने उत्तराधिकारियों से इस अर्थ में अधिक भाग्यवान थे कि उन्हें उस नये समाज में नहीं रहना पड़ा जिसके कि वे अग्रदूत थे। वे संतरण काल के जीव थे, उन क्रांतिकारी तूफ़ानों की संतान थे जिन्होंने मध्यकालीन सामंतवाद को ढहा दिया। वे नये विचारों के महानतम प्रवाह से, मानव के उस रोमांचकारी पुनर्जन्म से, अनुप्राणित थे जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती (इस विवादास्पद प्रश्न को छोड़ दीजिए कि आज भी हम वैसे ही दौर में प्रवेश कर रहे हैं या नहीं)।

उनकी दोनों कृतियाँ जीवन की स्फूर्ति की, कल्पना-शक्ति और भाषा की समृद्धता की दृष्टि से आज भी बेजोड़ है। दो संसारों के बीच वे खड़े थे। पुरानी दुनिया के व्यसनों का, बुराइयों का, वे उपहास करते और धज्जियाँ उड़ाते थे। किंतु नवीन को भी वे आँखें मूंद कर नही ग्रहण करते थे। शेक्सपीयर में भी यही बात थी, और सच पूछिए तो, रेनैसां काल की अन्य महान् विभूतियों में भी यह विशेषता मौजूद थी। तब से मानव ने उस बहादुर नयी दुनिया को, जिसे इन लोगों ने अपनी आह्लादपूर्ण किंतु सतर्क आँखों के सामने जन्म लेते देखा था, काबू में करके जितना पाया उतना ही उसकी तुलना में अपना व्यक्तित्त्व भी खो दिया।

रैबिले जीवन के उस दयनीय, विचित्र तथा आह्लादपूर्ण साधन, मानव शरीर की स्वतंत्रता को उभारते हैं और उस शरीर में बसने वाले मस्तिष्क को, उस मस्तिष्क को जिसने अभी-अभी नये सिरे से जीवन की खोज शुरू की है, संघर्ष का एक नया नारा प्रदान करते हैं : "जो जी में आये करो!" भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने उतनी ही आश्चर्यजनक क्रांति का सूत्रपात किया जितनी कि विचारों के क्षेत्र में। फ्रांसीसी भाषा के किसी भी अच्छे ऐतिहासिक व्याकरण के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो जाएगी। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषा के क्रांतिकारी प्रत्यावर्तन में लेखक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। रेनैसां के बाद फ्रांसीसी भाषा में जीवन का अगला महान् प्रवाह आता है रोमांटिक आंदोलन के रूप में, जो कि महान् क्रांति की संतान था। हमारी भाषा के बारे में भी, मोटे तौर से, यह बात सच है।

सर्वेण्टीज़ के कृतित्व क्रांतिकारी प्रकृति प्रत्यक्ष से अधिक परोक्ष है। उनके जीवन दृष्टिकोण का नाटक उनके दो मुख्य पात्रों के पारस्परिक संबंधों के रूप में, और फिर बाहरी दुनिया के साथ क्विगजोट तथा सांको के संबंधों के रूप में व्यक्त होता है। इस तरह उनका उपन्यास रैबिले से एक डग आगे बढ़ा हुआ है। जो हो, इन दोनों ने उपन्यासकार के लिए आवश्यक हर हथियार गढ़ कर रख दिया है। रैबिले ने हास्य और भाषा का कवित्व प्रस्तुत किया, सर्वेण्टीज ने व्यंग्य और अनुभूति की कविता दी। वे सार्वभौम प्रतिभा रखते थे और उपन्यास रूपी बहुरंगी गद्य-कथा के क्षेत्र में तब से एक भी ऐसी कृति नहीं लिखी गयी जो उनसे टक्कर ले सके।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये दोनों उपन्यासकार होने के साथ-साथ कर्मठ व्यक्ति भी थे, दोनों को उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा, और यह कि यदि मि. डेविड गार्नेट के लिए 'विशुद्ध कलाकार' के बारे में उनके साथ बातें करना संभव होता, तो दोनों-के-दोनों कुछ न समझ पाते। अगर काफी खींचतान के बाद, अंत में वे इस विचित्र और विरोधाभास युक्त धारणा का अर्थ समझ भी लेते तो दोनों, अपने-अपने ढंग से, पहले उसे गले लगाते और इसके बाद अपने मन का बोझ हल्का करते -- एक मौज में भद्दी गालियों का

अम्बार लगाकर, दूसरा गंभीरता के साथ व्यंग्य की बौछार करके। इस प्रकार दोनों ही इस विचित्र और विकृत धारणा की ख़बर लेते।

इस प्रकार उपन्यासकारों की, नये समाज के महाकाव्य लेखकों को, विरासत के रूप में महान् पूंजी प्राप्त थी जिससे वे लाभ उठा सकते थे। अब देखना यह है कि उन्होंने अपना दायित्व किस प्रकार निभाया। हमारे अपने देश में, करीब आधी शताब्दी तक, गौरव के साथ उन्होंने काम किया, हालांकि वे उन ऊँचाइयों पर कभी न पहुँच सके जिन्हें फ्रांस और स्पेन के महान् प्रतिभाशाली उपन्यासकार नाप चुके थे। उपन्यास एक हथियार था – राजनीतिक नारेबाजी के मोटे अर्थ में नहीं, बल्कि अपन जन्म और स्वस्थ विकास के प्रथम काल में यह एक ऐसा हथियार था जिसके द्वारा पूंजीपति वर्ग के श्रेष्ठतम, सर्वाधिक कल्पनाशील प्रतिनिधियों ने नये पुरुष ओर स्त्री को तथा उस समाज को जिसमें कि वे रहते थे, परखा। अठारहवीं शताब्दी के लेखकों के बारे में यह एक सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। वे मानव से कतराते नहीं थे। वे उसमें विश्वास करते थे, दुनिया को काबू करने की उसकी योग्यता में विश्वास करते थे। किंतु एक क्षण के लिए भी वे इस दुनिया की क्रूरता और बेइंसाफी की ओर से अपनी आँखे नही मूंदते थे। आखिर उनके नायक इसी दुनिया के ही तो अंग थे।

फील्डिंग पर यह दोष लगाया जाता है कि उसके उपन्यासों में 'उपदेशों' की भरमार है। किंतु अगर सब उपदेशों को हटा दिया जाए तो समाज की उनकी आलोचना फिर भी लुप्त नहीं होगी, क्योंकि वह स्वयं उनकी कहानी में निहित है। हाँ, ऐसा करने पर अंग्रेज़ी भाषा में से कुछ श्रेष्ठतम निबंध अवश्य गायब हो जाएँगे। अच्छा यही है कि इन निबंधों को वहीं रहने दिया जाए और इस दुःखद सत्य को स्वीकार कर लिया जाए कि फील्डिंग जो, **हेनरी** जेम्स[12] की तो बात ही छोडिए, फ्लौबर्ट तथा गौन्कोर्ट बंधुओं से भी पहले हुआ था, सभ्य साहित्यिक समाज के उन कतिपय नियमों से सचमुच परिचित न था, जिनका उपन्यास लिखते समय पालन करना ज़रूरी समझा जाता है। वह पहला अंग्रेज़ था जो यह समझ सका कि उपन्यासकार का कर्तव्य जीवन के बारे में सत्य को, जिस रूप में वह उसे देखता है, उसी रूप में प्रकट करना

है; और सत्य को उसने अपने रंग में प्रकट किया। **जोनाथन वाइल्ड** में उसने जीवन के इस सत्य को जिस रूप में व्यक्त किया, वैसे न कोई उसके पहले कर सका और न बाद में। यहाँ तक कि स्विफ्ट भी उसकी ऊँचाइयों को छूने में कभी सफल नहीं हो सका। सत्य की यह अभिव्यक्ति एक ऐसे भयानक और निर्मम आक्रोश के साथ उसने की, जो अमर है, क्योंकि वह मानवीय जीवन के अधोपतन के प्रति मानवीय आक्रोश का मूर्त रूप है।

फील्डिंग की यह आलोचना की गयी है – उल्लेखनीय रूप में अंग्रेज उपन्यासकार में श्री डेविड गार्नेट के निबंध में – कि दुःख दर्द के प्रति उनका एक ऐसा निमर्म रवैया है जो संवेदनशीलता की कमी को व्यक्त करता है। यह सच है कि मानव हृदय की कुछ ऐसी गहनतम गहराइयाँ हैं जिन्हें उनके कृतित्व में अभिव्यक्ति नहीं मिली क्योंकि वह अंतर्मुखी लेखक न होकर *बहिर्मुखी लेखक थे; और यदि यह कमी कहीं-कहीं उनकी निरीक्षण शक्ति में* बाधक होती है, तो यह कहना अनुचित न होगा कि रिचर्डसन, स्टर्न और रूसो जैसे अंतर्मुखी लेखकों ने कदाचित् वस्तुगत जगत को त्याग कर और भी अधिक खोया है, और उनकी दृष्टि और भी अधिक संकुचित हो गयी है।

किंतु उपन्यासकार फील्डिंग पर हृदयहीनता का यह आरोप अनुचित और अन्यायपूर्ण है। वह एक हृदयहीन दुनिया में, विजयी पूंजीवाद की दुनिया में, रहता था। वह उस काल में रहता था जबकि अंग्रेज सामन्त अंग्रेज किसान को कुचल कर नेस्तानाबूद कर रहे थे, जबकि अंग्रेज लुटेरे भयानक और अनैतिक (निर्गुण अर्थ में) तरीकों से इण्डीज की सम्पदा पर हाथ साफ कर रहे थे और इस लूटे हुए धन के संचय से देश में औद्योगिक क्रांति की ज़मीन तैयार की जा रही थी। वह विचित्र विभूति, वारेन हेस्टिंग्स,[13] पूर्व से बदला लेने के लिए जिसे हमने अंग्रेजी चंगेज खां बना कर भेजा था, फील्डिंग के दिनों में अभी बच्चा था। वालपोल उसके प्रौढ़ काल का प्रधान मंत्री था। और **जोनाथन वाइल्ड** के वे परिच्छेद जिनमें बड़े लोगों द्वारा लूट के माल तथा पगड़ियों की हिस्सा-बाँट का वर्णन है, भ्रष्टाचार और लूट के उस युग का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं। फील्डिंग पर हृदयहीनता का आरोप लगाना ऐसा

ही होगा जैसा कि **लेडी इनदू फौक्स** के रचयिता को अपने युग के वास्तविक जीवन के प्रति संवेदनहीन होने का दोषी ठहराना।

अठारहवीं शताब्दी के लेखकों में एक द्वैध दिखायी देता है जो न केवल दिलचस्प है बल्कि महत्वपूर्ण भी है। डेफो, फील्डिंग और स्मौलेट दुनिया का विशुद्ध वस्तुगत चित्र प्रस्तुत करने में संलग्न रहते हैं। उनके पात्रों का "आंतरिक जीवन" बहुत ही संकुचित या न के बराबर है, और ये लेखक भावना या उद्देश्य का विश्लेषण करने में अपना ज़रा भी समय खर्च नहीं करते, कारण कि वे 'क्यों' के बजाय 'कैसे' का वर्णन करने में अधिक व्यस्त रहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि "क्यों" का बहिष्कार हो गया। नहीं, ऐसा नहीं है। आम तौर से, पाठक को यह साफ पता चल जाता है कि कोई पात्र अमुक काम क्यों करता है, कारण कि कर्म पात्र से ही – जैसा कि हम जानते हैं – प्रवाहित होता है। मिसाल के लिए, उस सुप्रसिद्ध प्रसंग को लीजिए जिसमें मौल फ़्लैण्डर्स[14] बच्चे को लूटने के बाद उसकी हत्या से हाथ खींच लेती है। उसके चरित्र को देखते हुए यह बात साफ समझ में आ जाती है कि ऐसा वह क्यों नहीं करती। डेफो की दिलचस्पी इस बात में है कि उसने बच्चे को लूट कर संतोष कर लिया, और शिशु हत्या करने से पहले ठिठक कर हाथ खींच लिया। 'क्यों' की खोजबीन से यह ज्यादा दिलचस्प मालूम होता है। लेकिन डेफो की जगह अगर दोस्तोवस्की होता तो इस (अपेक्षाकृत) तुच्छ घटना के चारों ओर एक समूचे उपन्यास का जाल पूर देता जिसका एकमात्र लक्ष्य 'क्यों' की खोजबीन करना होता।

अठारहवीं शताब्दी में उपन्यास का एक सर्वथा नये रूप में विकास हुआ। उपन्यास ने अब केवल व्यक्तिगत उद्देश्यों और भावनाओं से ही वास्ता रखा जिसमें सामान्य जीवन के चित्रण का लगभग कोई स्थान न रहा। रौबिन्सन क्रूसो व्यक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति था, लेकिन एक ऐसे व्यक्ति की अभिव्यक्ति जो पूर्णतया बहिर्मुखी था – एक पहलू से नयी दुनिया का प्रतिनिधि मानव, लेकिन दूसरे पहलू से नहीं। क्रूसो ने देखा कि वही अकेला दुनिया को जीत सकता है। स्टर्न और रूसो और भी आगे बढ़े और उन्होंने आविष्कार किया कि अकेला व्यक्ति ही दुनिया है। दर्शन के क्षेत्र में भी ऐसा

ही कुछ हुआ। बर्कले ने लौक के अनुभव-सिद्धवाद को उलट कर अपने अंतर्मुख भाववादी दर्शन की रचना की, जो हमारी निजी चेतना से बाहर अन्य किसी वास्तविकता से इंकार करता था। कथा-साहित्य के क्षेत्र पर इसका – व्यक्ति की चेतना को प्रारंभ-बिंदु मान कर दुनिया को देखने का – क्रांतिकारी और व्यापक प्रभाव पड़ा। शीघ्र ही इसका अनिवार्य परिणाम भी प्रकट हो गया : रेस्टिफ द ब्रेटोन[15] ने अपनी जीवनी पर आधारित उपन्यास **मौशिये निकोलास** स्वयं अपने आपको ही समर्पित किया। किंतु जहाँ इस नयी पद्धति ने कुछ हास्यास्पद नतीजे पैदा किये और अंत में उपन्यास को ही नष्ट कर दिया, वहाँ यह शुभ नतीजे भी प्रकट कर सकती थी।

असलियत यह है कि वास्तविकता के बारे में न तो फील्डिंग का दृष्टिकोण पूर्णतया सही था और न रिचर्ड्सन तथा स्टर्न का ही। भावों और विश्लेषण की उपेक्षा तथा व्यक्ति के अंतर्मुखी पक्ष को न, देख सकने के कारण उपन्यास सूझबूझ और कल्पना की उड़ान से वंचित रह गया। इसी प्रकार समूचे कार्यक्षेत्र को व्यक्ति की चेतना में केंद्रित करने के परिणामस्वरूप उपन्यास महाकाव्य के गुणों से शून्य हो गया। सर्वेण्टीज के लिए इस तरह का विभाजन कल्पनातीत था। यह विभाजन तो उस पूर्णतया विकसित पूंजीवादी समाज की देन था जिसने व्यक्ति को समाज से पृथक करने की प्रक्रिया को पूरा कर दिया था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि दो पीढ़ियों में अपने सामाजिक श्रम के सूक्ष्म और जटिल विभाजन को पूरा करने के दौरान में उसने खुद व्यक्तियों का ही उपविभाजन करना शुरू कर दिया।

नयी धारा के उपन्यासकार परेशानी में डालने वाले 'चेतनावाद' के अपने आविष्कार के साथ उपन्यास के क्षेत्र में एक क्रांति के अग्रदूत थे। रिचर्ड्सन ने डबडबाई आँखों से, किंतु सच्चाई के साथ, मानव हृदय की अत्यंत गहनतम भावनाओं को प्रकट किया। जीवन के बारे में फील्डिंग जैसे अडिग दृष्टिकोण तथा वास्तविकता की मज़बूत पकड़ की अगर उनमें कसर न होती तो वह विश्व के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में स्थान पाते। लेखक में जिन गुणों का अत्यंत प्रत्यक्ष अभाव हो, उन गुणों की उससे कामना करना है तो बेकार की बात, किंतु रिचर्डसन के अभावों पर यह बेकार का खेद सर्वथा असंगत

नहीं है, कारण कि इन अभावों ने उन्हें अन्यायपूर्वक किंतु अनिवार्यतः अजायबघर की चीज़ बना दिया – एक जीवित लेखक के बजाय वह एक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक 'प्रभाव' मात्र रह गए हैं।

वास्तविकता से इस पलायन को स्टर्न ने और भी आगे बढ़ाया। रिचर्डसन जहाँ अपने पात्रों की केवल भावनओं का ही चित्रण करते थे, और बावजूद इसके कि वह चिट्ठी-पत्रों के रूप में अपनी कहानी कहते थे (उनका यह ढंग फ्रांस से उधार लिया हुआ तथा अपने घरेलू अनुभव पर आधारित था), समय और काल की पृष्ठभूमि में कहानी कहने की परंपरा को उन्होंने नहीं छोड़ा था। स्टर्न ने, एक ही आघात में, यह सब नष्ट कर दिया। उनके उपन्यास **त्रिस्त्राम शैण्डी** के नायक की केंद्रीय समस्या को मजे में 'जीवन का बोझ ढोयें या उससे छुटकारा पायें' की समस्या कहा जा सकता है, किंतु इतने शाब्दिक अर्थ में कि जिसकी हैमलेट सपने तक में कल्पना नहीं कर सकता था, और जहाँ तक इस पाठक का संबंध है, वह कभी यह निश्चयपूर्वक नहीं जान सका कि समस्या का कोई समचित समाधान हुआ अथवा नहीं। बावजूद इसके कि त्रिस्त्राम शैण्डी के जन्म की भौतिक प्रक्रिया की पेचीदगियों का इतने रोचक ढंग से वर्णन किया गया है, तत्व की बात पल्ले नहीं पड़ती। स्टर्न अपने उपन्यास में समय की – काल की – हत्या करता है। क्या उपन्यास में कहानी कही जाय? हाँ, सापेक्षतावादी जवाब देते हैं, उपन्यास में कहानी कही जा सकती है बशर्ते कि वह एक जासूसी कहानी हो जिसमें पाठक प्रारंभ, मध्य और अंत का सूत्र पाने के लिए छटपटाए, निरंतर हैरान और परेशान रहे, और बाद में स्वयं लेखक से उसे सारा रहस्य मालूम हो, अथवा, **जहाँ** इन बातों की अति हो जाती है – लेखक के मित्रों को खास तौर से टीका-टिप्पणियाँ लिखनी पड़ें।

स्टर्न में महानतम उपन्यासकारों के सभी दैवी गुण मौजूद थे – वह व्यंग्य के धनी थे, उनकी कल्पना अद्भुत उड़ानें भरती थी, अश्लीलता में रस लेना वह जानते थे, मानवता से वह प्यार करते थे और हर वह चीज़, जिससे देव-बालाएं जन्म के समय प्रतिभा के धनी का अभिषेक करती हैं, उनके पास मौजूद थी – हर चीज़, केवल एक को छोड़ कर, और वह एक चीज़ थी

अपने पात्रों को वास्तविक दुनिया में स्थापित करने की क्षमता। वह बड़े चाव से अपने आपको इंग्लैंड का रैबिले कहा करते थे, चर्चा टोबी और ट्रिम[16] की रचना में सर्वेण्टीज़ का उन्होंने अनुसरण किया था। किंतु वह रैबिले नहीं थे और सर्वेण्टीज़ तो उन्हें किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। इन दोनों ने एक नयी दुनिया खोज निकाली थी, दोनों जीवन से लड़ते थे, और उसे प्यार भी करते थे, किंतु स्टर्न तो केवल अठाहरवीं शताब्दी के एक शब्दवीर भलेमानुस थे जो श्रीमन्तों के समाज के साथ पटरी बैठाने के लिए छटपटाते रहे। अपने दूर के उत्तराधिकारी स्वान्न के मुकाबले में वह कहीं अधिक रोचक और कहीं अधिक प्रतिभाशाली थे, किंतु दोनों पुस्तकों की रचना का प्रेरणा स्रोत एक ही था। स्टर्न प्रथम लेखक थे जिन्होने समय या काल को नष्ट किया, उपन्यास में सापेक्षतावाद का सूत्रपात किया, किंतु यह उन्होंने एक महानतर वास्तविकता के हित में नहीं, बल्कि इसलिए किया कि इस तरह अपने बारे में बातें करना उन्हें अधिक आसान मालूम हुआ। भाववादी पूछते हैं कि स्वयं से बढ़कर वास्तविता और कौन सी है? जवाब है: उन लोगों की वास्तविकता जो तुम्हें पसंद नहीं करते और तुम्हें किसी गधे से कम नही समझते – बेशक, उन्हीं लोगों की वास्तविकता जो स्टर्न को अपना ढोल पीटने वाला निर्लज्ज विज्ञापक और प्राउस्ट को सामाजिक बड़प्पन की सीढ़ियाँ नापने वाला ढोंगी समझते थे। किंतु क्या वे गलत न थे? हाँ, वे गलत थे, हालांकि उन्हें गलत सिद्ध करने के लिए स्टर्न और प्राउस्ट ने जिस बुरी तरह हाथ-पैर मारे, उससे **रचनात्मक** कलाकार के रूप में खुद उनका मूल्य कम हुआ।

अठारहवीं शताब्दी का वास्तविक क्रांतिकारी, यदि सच पूछा जाए तो उपन्यासकार था ही नहीं, हालांकि वह सभी काल के महानतम कल्पनाशील गद्य-लेखकों में से एक था। अठाहरवीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवाद ने एक भ्रम का पोषण किया था – यह कि शिक्षा मानव को बदल सकती है। रूसो के हृदय में यही भ्रम बसा था। निश्चय ही यह धारणा पूर्ण रूप से भ्रम नहीं है, बल्कि मानव का सामाजिक वातावरण यदि अनुकूल हो तो यह सच भी हो सकती है, बशर्ते कि खुद मानव भी अपने-आप को बदलने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील हो। रूसो के सिद्धांत ने उनके हृदय में यह

विश्वास पैदा किया कि मानव चरित्र को अच्छी दिशा में बदलने के लिए प्रकृति अत्यंत शक्तिशाली प्रभावों में से एक है। यह एक दुःखद भ्रम है, किंतु इस भ्रम का पोषण करके रूसो ने साहित्य की एक बहुत बड़ी सेवा की – कला के क्षेत्र में प्रकृति को फिर वापिस ला दिया। रूसो के बिना हम कभी एग्डोनहीथ[17] को नहीं पाते, न तोल्स्तोय के फसल काटने वालों से हमारा परिचय होता और न कोनराद के प्रशांत[18] से।

अठारहवीं शताब्दी उपन्यास का स्वर्ण युग था। इस युग के उपन्यासों में सर्वेण्टीज और रैबिले जैसी अद्भुत कल्पना की उड़ान तो नहीं थी, जो यह दिखा सके कि कल्पना किस प्रकार वास्तविकता को दानवी शक्ति से बदल सकती है, किंतु वे मानव से डरे नहीं। और बिना किसी रू-रियायत के उन्होंने जीवन के बारे में साहस के साथ खरी बात कही। उनमें व्यंग्य है, और हास्य भी, और मानव को यह समझने के लिए वे बाध्य करते हैं कि व्यक्ति का एक आंतरिक जीवन भी होता है और बाह्य जीवन भी। मानव के लिए उन्होंने प्रकृति को खोज निकाला, और फील्डिंग, स्विफट, वाल्तेयर, दिदेरो और रूसो की कृतियों द्वारा उन्होंने मानव में यह चेतना जागृत की कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ इस दुनिया में भी सब कुछ श्रेष्ठ नहीं है। और उन्होंने मानव को जगाया ठीक समय पर ही, क्योंकि अठारहवीं शताब्दी की दुनिया इतिहास के सबसे महान क्रांतिकारी भूकम्प में तबाह होने जा रही थी। किंतु यह शताब्दी एक काम करने में विफल रही। वह एक भी ऐसा उपन्यास नहीं पैदा कर सकी जो फील्डिंग के मानवीय यथार्थवाद, रिचर्डसन की संवेदनशीलता, स्टर्न के व्यंग्य-हास्य और रूसो के गहरे प्रकृति प्रेम को एक साथ प्रस्तुत करता। उन्नीसवीं शताब्दी भी इस मामले में अधिक सफल न रही; हालांकि बालजाक और तोल्स्तोय में पहले के मुकाबले वह इस लक्ष्य के सभी निकट आ गयी। वैसे यदि समग्र रूप में देखा जाए तो, उन्नीसवीं शताब्दी निस्संदेह एक पीछे हटने की शताब्दी थी, और इस पीछे हटने की क्रिया ने हमारे समय में आकर एक आतंकपूर्ण भगदड़ का रूप धारण कर लिया है।

संदर्भ

1. थॉमस मेलोरी, पंद्रहवीं शताब्दी का अंग्रेज़ लेखक, 'मोर्त द' आर्थर' नामक उपन्यास का रचयिता।

2. पंद्रहवीं शताब्दी का अंग्रेज़ी पत्र-साहित्य। यह संग्रह पेस्टन परिवार से प्राप्त हुआ था।

3. पवित्र ग्राएल, किंवदंती के अनुसार वह प्याला जिससे ईसा मसीह ने गुप्त संध्या को पान किया था; मध्यकालीन किंवदंती के अनुसार यही वह प्याला था जिसमें क्रॉस पर कीलों से जड़े गये ईसा मसीह का रक्त इकट्ठा किया गया था। बाद मे राजा आर्थर के वीर इसे इंग्लैंड ले आये और राजा आर्थर के गोलमेज के वीरों को यह भेंट कर दिया गया। रोमांटिक पंथ के अनेक लेखकों ने इस किंवदंती को अपने लेखन का विषय बनाया है।

4. अंग्रेज़ लेखक जान लिली (1554-1606) कृत उपन्यास। इस उपन्यास की कृत्रिम रूप से जटिल तथा आडम्बरपूर्ण शैली ने ही अंग्रेज़ी भाषा में 'यूफिमिज्म' शब्द को जन्म दिया।

5. अंग्रेज़ी लेखक फिलिप सिडनी (1554-1586) का उपन्यास।

6. अंग्रेज़ कवि एडमण्ड-स्पेन्सर (1552-1599) की लिखी हुई कविता जो राजा आर्थर और उनके गोलमेज वीरों की मध्यकालीन कथा पर आधारित है। यह कविता रानी एलिज़ाबेथ को समर्पित की गयी थी।

7. दिदेरो द्वारा रचित दार्शनिक कहानी।

8. 'लाल और काला' नामक स्टेंढाल का उपन्यास।

9. 'इंद्रियों की शिक्षा' नामक फ्लौबर्ट का उपन्यास।

10. एमिली ब्रान्ते (1818-1848) कृत प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यास; एमिली ब्रान्ते प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यास लेखिका शार्लोट ब्रान्ते की बहन थीं।

11. अंग्रेज़ लेखक सेमुअल बटलर (1835-1903) कृत उपन्यास।

12. अमरीकी लेखक (1843-1916), अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के रचयिता।

13. हेस्टिंग्स, (1732-1818) भारतीय जनता के दमन के लिए कुख्यात, भारत का प्रथम अंग्रेज़ गर्वनर-जनरल (1773-1784)।

14. डेफ़ो के उपन्यास की नायिका।

15. फ्रांसीसी लेखक, (1734-1806) रूसो का अनुयायी, अनेक उपन्यासों का रचयिता जिनमें "मि. निकोल्स और मानव हृदय की सच्चाई " नामक आत्मकथात्मक उपन्यास सर्वप्रसिद्ध है। यह उपन्यास 16 जिल्दों में लिखा गया है।

16. स्टर्न के उपन्यास 'त्रिस्त्राम शैन्डी' के पात्र।

17. अंग्रेज़ उपन्यासकार थॉमस हार्डी के अनेक उपन्यासों का घटना-स्थल।

18. अंग्रेज़ लेखक जोसफ कोनराद (1857-1924) की समुद्री कहानियों और उपन्यासों का उल्लेख है। इन कहानियों का घटना-स्थल प्रशांत महासागर है।

3. महाकाव्य और उपन्यास

जार्ज लुकाच

महाकाव्य और उपन्यास उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक साहित्य के दो प्रमुख रूप हैं। ये एक दूसरे से न केवल इस कारण भिन्न हैं कि इनके लेखकों के मूल अभिप्राय भिन्न होते हैं, बल्कि इसलिए कि जिन ऐतिहासिक-दार्शनिक वास्तविकताओं से लेखकों का सामना होता है, वे भिन्न होती हैं। उपन्यास उस युग का महाकाव्य है जिसमें जीवन की विस्तृत संपूर्णता प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान नहीं रह जाती, और जिसमें जीवन अर्थ की अंतर्व्याप्ति एक समस्या बन चुकी होती है, लेकिन फिर भी जो संपूर्णता के अर्थों में ही सोचता है। यह केवल सतही बात होगी – मात्र कलात्मक तकनीक का विषय – कि एकमात्र और निर्णायक विधा-व्याख्यायक प्रतिमान को इस प्रश्न में खोजा जाए कि कोई कृति गद्य में लिखी गई है कि पद्य में।

पद्य न तो महाकाव्य का अंतिम निर्णायक घटक होता है और न ही त्रासदी का, यद्यपि यह वस्तुतः एक ऐसा गहन लक्षण है, जिससे इन रूपों की सच्ची प्रकृति सर्वाधिक सही और प्राभाणिक रूप में उद्घाटित होती है। त्रासदिक पद्य तीखा और कठोर होता है, यह पृथक करता है और दूरी पैदा करता है। यह नायकों की उनके एकाकीपन की पूर्ण गहराई में आवृत करता है जो स्वयं रूप से ही उत्पन्न होती है, यह नायकों के मध्य संघर्ष और विनाश के अतिरिक्त किन्हीं भी संबंधों की अनुमति नहीं देता, इसकी गीतात्मकता के

भीतर उस मार्ग तथा उसके अंत के विषय में उभरने वाले निराशा या उत्साह के स्वर निहित हो सकते हैं, जिस पर अभी यात्रा की जानी है, यह उस गर्त की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत कर सकता है, जिसके ऊपर सारतत्व हवा में लटका है, किंतु त्रासदिक चरित्रों की आत्माओं के बीच शत्रु मानवीय समझ कभी आगे नहीं बढ़ती जैसे वह कभी-कभी गद्य में बढ़ती है, निराशा कभी शोकगीत में परिवर्तित नहीं होती, और न ही उत्साह उन ऊँचाईयों की आकांक्षा का रूप लेता जो लुप्त हो चुकी है, आत्मा कभी भी मनोवैज्ञानिक संदर्भ के साथ अपनी निजी गहराइयों को नहीं माप सकती, और न ही स्वयं को अपनी निजी गहनता के आइने में पहचान सकती है।

जैसा कि शिलर ने गेटे को लिखा था, कलात्मक आविष्कार में जो कुछ भी नगण्यता हो सकती है नाटकीय पद्य उसे उद्घाटित करता है, इसमें एक विशिष्ट तीखापन, एक समूचा नितांत अपना गुरुत्व होता है, जिसके सामने वह कुछ भी जीवित नहीं रह सकता जो जीवन जैसा होता है अर्थात् जो नाटकीय रूप में साधारण होता है : यदि कलाकार की सृजनात्मक मानसिकता में कुछ भी नगण्य होता है तो भाषा और कथ्य के गुरुत्व के बीच विद्यमान वैपरीत्य से वह प्रकट हो जाएगा।

महाकाव्य का पद्य भी दूरियाँ उत्पन्न करता है, किंतु महाकाव्य के क्षेत्र में (जो जीवन का क्षेत्र होता है) दूरी का अर्थ होता है प्रसन्नता और रंजकता (हलकापन), ऐसे बंधनो की शिथिलता जो मनुष्यों और वस्तुओं को पृथ्वी से बांधे रहते हैं, ऐसी भारहीनता और सरसता जो जीवन में अंतर्निहित होते हैं और जो केवल इधर-उधर दिखने वाले सुखद क्षणों में बिखरे होते हैं। महाकाव्य के पद्य की निर्मित दूरियाँ इस प्रकार के क्षणों को जीवन के सच्चे स्तर में रूपांतरित कर देती है। और इसलिए पद्य का प्रभाव यहाँ पर बिल्कुल विपरीत होता है, केवल इसलिए कि उसके तात्कालिक परिणाम – नगण्यता की समाप्ति और सारवस्तु के निकटतर आने के परिणाम – भी बिल्कुल वही होते हैं। जीवन के क्षेत्र – अर्थात् महाकाव्य – में भारीपन नगण्य होता है, वैसे ही जैसे रंजकता (हलकापन) त्रासदी में नगण्य होती है। एक ऐसी वस्तुपरक गारंटी को ही – कि प्रत्येक जीवन जैसी वस्तु के हटाए जाने का

अर्थ जीवन से हटकर खोखला अमूर्तन नहीं, बल्कि सारवस्तु बनना होता है – वह संगति दी जा सकती है जिसके द्वारा जीवन-जैसी नहीं दिखने वाली आकृतियाँ निर्मित होती हैं, केवल उसी अवस्था में जब वे आकृतियाँ अद्भुत रूप से अधिक अर्थवान, अधिक वृत्तात्मक, और सारतत्व से इतनी अधिक युक्त हो जाएं जितनी कि वास्तविक जीवन में कल्पना ही नहीं की जा सकती, तभी यह कहा जा सकता है कि त्रासदिक शैलीकरण को सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया गया है। हल्की या निर्जीव सी प्रत्येक वस्तु (जिसका यद्यपि 'जीवन-जैसी-नहीं' की यांत्रिक अवधारणा से काई संबंध नहीं होता) आदर्शमूलक (नार्मेटिव) त्रासदिक प्रयोजन की अनुपस्थिति को प्रकट करती है और इस प्रकार कृति की नगण्यता को प्रदर्शित करती है, उसके अंशों की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और/या गीतात्मक कोमलता चाहे जो भी हो।

बहरहाल, जीवन में भारीपन का अर्थ होता है वर्तमान अर्थ की अनुपस्थिति, व्यर्थ एवं सामान्य से संबंधों का असंभवप्राय उलझाव, एक ऐसा छीजा हुआ और बंजर अस्तित्व जो पृथ्वी के आवश्यकता से अधिक निकट और स्वर्ग से आवश्यकता से अधिक दूर होता है, एक कष्ट यात्रा, शुद्ध पाशविक भौतिकता के बंधनों से स्वयं को मुक्त करा पाने की असमर्थता, वह प्रत्येक वस्तु, जो जीवन की सर्वोत्तम अंतर्व्याप्त शक्तियों के लिए एक ऐसी चुनौती का प्रतीक होती है, जिस पर आवश्यक रूप से निरंतर काबू पाना होता है – यह सब औपचारिक मूल्य-निर्णय के अर्थ में नगण्यता होती है। एक पूर्वस्थिर लयबद्धता यह आदेश देती है कि महाकाव्य-पद्य ईश्वरीय अनुकंपा से उपस्थित जीवन संपूर्णता का गान प्रस्तुत करें; पुराण-कथाओं में पूरे जीवन को समाहित करने वाली कविता-पूर्व की प्रक्रिया ने अस्तित्व को सारे नगण्य भारीपन से मुक्त कर दिया था, होमर में लहलहाने को उद्यत बसंत की कलियाँ अभी केवल प्रस्फुटित ही हो रही थी। वैसे, स्वयं पद्य भी कली को खिलने के लिए केवल अस्थाई रूप मे प्रोत्साहित कर सकता है, पद्य ऐसी किसी वस्तु के चारों ओर, जो पहले ही सब बंधनों से मुक्त हो चुकी है, स्वतंत्रता का केवल एक हार बुन सकता है। यदि लेखक का कार्य छिपे अर्थ को उद्घाटित करने में निहित है, यदि उसके नायकों को पहले अपने बंदीगृहों को अनिवार्यतः तोड़ कर

बाहर आ जाना है और दुःसाहसिक संघर्षों अथवा लंबी और कठिन यात्राओं में अपने स्वप्नों का घर – पार्थिक गुरुत्वाकर्षण से अपना स्वातंत्र्य – प्राप्त करना है, तब पद्य की शक्ति जो चौड़ी और गहरी खाई पर फूलों का गलीचा बिछा कर उसे ढंक सकती है, इतनी पर्याप्त नहीं हो सकती कि उस खाई को पार करने के लिए एक व्यावहारिक मार्ग निर्मित कर सके। उत्कृष्ट महाकाव्य साहित्य की रंजकता केवल एक ऐतिहासिक क्षण का अंतर्व्याप्त स्वप्न संसार होती है, और एक वाहन के रूप में पद्य हर उस वस्तु को, जिसका वह वाहक होता है, ऐसी रूपदायी तटस्थता प्रदान करता है जो निश्चय ही महाकाव्य से उसकी महान् संपूर्णता, उसकी लेखकीय अनुपस्थिति छीन लेती है और उसे एक ग्रामगीत अथवा उच्छल गीतात्मकता में बदल देती है। उत्कृष्ट महाकाव्य साहित्य की रंजकता एक सकारात्मक मूल्य और यथार्थ निर्मात्री शक्ति होती है, लेकिन तभी जब अवरोधक बंधन वास्तव में उतार फेंके गए हों। उत्कृष्ट महाकाव्य-साहित्य कभी भी ऐसे मनुष्यों के सृजन का परिणाम नहीं होता जो एक मुक्त कल्पना की सुंदर क्रीड़ा में अपनी परवशता को भुला देते हों अथवा अपनी दासता को भूल कर ऐसे मनोरम टापुओं पर शांत अवकाश का आनंद लेने चले जाते हों जो इस नगण्य विश्व के मानचित्र पर नहीं मिलते। ऐसे कालखंडों में, जिनमें इस प्रकार की रंजकता अब शेष नहीं रही, पद्य या तो उत्कृष्ट महाकाव्य से निष्कासित हो जाता है, या वह स्वयं को अनपेक्षित रूप में या अनजाने गीतिकाव्य में ढाल लेता है। तब केवल गद्य पीडाओं और प्रशंसाओं को, संघर्ष और श्री को समान सामर्थ्य के साथ समेट सकता है, केवल इसकी निर्बंध दृढ़ता (प्लास्टिसिटी) और इसका लयरहित अनुशासन ही समान सामर्थ्य के साथ उस क्षण के बाद से अंतर्व्याप्त प्रदीप्ति द्वारा अर्थवान् विश्व की दासताओं और स्वाधीनता को, प्रदत्त गुरुता और अधिकृत रंजकता को आवृत्त कर सकते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि गीतों में ढली वास्तविकता का विघटन सर्वेंटीज़ के गद्य में उत्कृष्ट महाकाव्य को आर्त रंजकता की ओर ले गया, जबकि एरियोस्टो के पद्य का सौम्य नृत्य गीति नाट्य बनकर रह गया, यह आकस्मिक नहीं है कि महाकाव्यकार गेटे ने अपने ग्रामगीतों को पद्य के सांचे में ढाला, किंतु अपने 'मीस्टर' (मास्टर) उपन्यास की समग्रता

के लिए गद्य का चुनाव किया। दूरियों के संसार में समूचा महाकाव्यात्मक पद्य गीतिकाव्य में बदल जाता है (यद्यपि 'डान जुआन' और 'ओनेगिन' पद्य में लिखे गए हैं, किंतु वे महान् हास्यधर्मी (ह्यूमरस) उपन्यासों की श्रेणी में ही आते हैं), क्योंकि पद्य में प्रत्येक छिपी वस्तु स्पष्ट हो जाती है, और पद्य की तेज़ उड़ान उस दूरी को नग्न, हास्यास्पद, कुचले हुए अथवा मात्र एक विस्मृत स्वप्न के रूप में दिखलाती है, जिस पर अपनी अर्थवत्ता तक क्रमशः पहुँचते हुए गद्य एक सुविचारित गति से यात्रा करता है।

दांते का पद्य भी गीतात्मक नहीं है, यद्यपि होमर के पद्य की तुलना में इसे गीतात्मक माना जा सकता है, वह गीतिकथा (बैलड) के स्वर को महाकाव्य के स्वर में घना और संकेंद्रित कर देता है। दांते के संसार में जीवन की अर्थव्याप्ति जीवित एवं वर्तमान होती है, किंतु केवल पदार्थ जगत से परे : यह इंद्रियातीत की पूर्ण अंतर्व्याप्ति है।

सामान्य जीवन में दूरी को उस बिंदु तक बढ़ाया जाता है, जहाँ उस पर नियंत्रण न रखा जा सके, किंतु उस संसार से परे प्रत्येक पथहारा यात्री उस घर को पा लेता है, जो अनंतकाल से उसकी प्रतीक्षा कर रहा होता है, हर अकेला स्वर जो चुपचाप पृथ्वी पर आता है, एक ऐसे कोरस द्वारा अपनाया जाता है, जो उसके लिए प्रतीक्षारत थी, वह समस्वरता की ओर ले जाता है और इसी के माध्यम से स्वयंमेव समस्वरता (हार्मनी) बन जाता है।

दूरियों का संसार देदीप्यमान दिव्य गुलाब के नीचे फैला अराजक अवस्था में पड़ा रहता है, वह प्रतिक्षण दृश्यमान और अनावृत्त होता है। संसार से परे उस घर का प्रत्येक निवासी इसी संसार से आया है और नियति की अपराजेय शक्ति द्वारा इसी संसार से बंधा होता है, किंतु वह इस तथ्य को तभी पहचानता है, इसकी भंगुरता और भारीपन को तभी देखता है, जब वह अपने प्रयत्न द्वारा सार्थकता ग्रहण करने वाले मार्ग के अंत तक यात्रा कर चुका होता है, प्रत्येक आकृति अपनी एकाकी नियति के गीत गाती है, उस एकाकी घटना के विषय में गाती है जिसमें उसके हिस्से की नियति एक गीति-कथा के रूप में सामने आई थी और जिस प्रकार इंद्रियातीत विश्व संरचना की समग्रता प्रत्येक पृथक नियति की पूर्व निश्चित भावदायी **एवं**

सर्वग्राही पूर्वसिद्धि होती है, उसी प्रकार इस प्रसाद की, इसकी संरचना की, इसके सौंदर्य की बढ़ती हुई समझ – दांते की महान् अनुभव यात्रा – सद्यः उद्घाटित अपने अर्थ की अन्वति में प्रत्येक वस्तु को आवृत्त कर लेती है। दांते की अंतर्दृष्टि व्यक्ति को पूर्ण के अंश में बदल देती है, और इसलिए गीतिकथा गीत-महाकाव्य बन जाते हैं। इस संसार की अर्थवत्ता केवल इस संसार से बाहर जाकर ही दूरीहीन, स्पष्ट और सार्थक बनती हैं। समग्रता की विवशता इस संसार में यह होती है कि वह कमजोर रहे, और लोग उसे एक लक्ष्य के रूप में देखते रहें : वोल्फ्राम वान ऐशनबाख अथवा गाटफ्राइड वान स्ट्रासबर्ग के पद्यांश इन लेखकों के उपन्यासों के केवल गीतात्मक अलंकार बनते हैं, और 'सांग ऑफ द निबेलुंग्स' का गीति कथा जैसा गुण लेखकीय कुशलता द्वारा मात्र छुपाया जा सकता है, पूरा नहीं किया जा सकता, ताकि वह विश्वग्राही समग्रता प्राप्त कर सके।

महाकाव्य एक ऐसी जीवन समग्रता को रूप देता है जो अपने अंदर से ही वृत्ताकार होती है, जबकि उपन्यास रूप का प्रयोग करके छिपी हुई जीवन समग्रता को अनावृत्त और निर्मित करना चाहता है। कृति की प्रदत्त संरचना (अर्थात् वह खोज जो केवल रचनाकार की इस समझ को व्यक्त करने का एक तरीका होती है कि न तो वस्तुपरक जीवन और न ही रचनाकार से उसका संबंध अपने आप में स्वाभाविक संगति लिए होता है) रूपदायी प्रयोजन का एक संकेत प्रदान करती है। ऐतिहासिक स्थिति में अंतर्निहित सब दरारें और कटाव रूपदायी प्रक्रिया में अनिवार्यतः समाहित हो जाते हैं और उन्हें लेखकीय कौशल द्वारा न तो छुपाया जा सकता है और न ही छुपाया जाना चाहिए। इस प्रकार उपन्यास का आधारभूत रूप निर्णायक प्रयोजन उपन्यास नायकों के मनोविज्ञान के रूप में मूर्त हो जाता है। उपन्यास के नायक खोजी होते हैं। खोजने का साधारण अभिप्राय यह होता है कि न तो ध्येय और न ही उन तक ले जाने वाला मार्ग सीधे प्रस्तुत किया जा सकता है, अथवा यदि उन्हें मनोवैज्ञानिक रूप से सीधे तथा ठोस आकार में दिया गया तो यह घटना वास्तव में विद्यमान संबंधों अथवा नैतिक आवश्यकताओं की साक्षी नहीं होगी, बल्कि केवल एक ऐसे मनोवैज्ञानिक तथ्य की साक्षी होगी जिसके अनुरूप बनने की अनिवार्य आवश्यकता वस्तुओं और नियमों

के जगत में किसी को नहीं होगी। दूसरे शब्दों में यह 'सीधे तथा ठोस आकार में दिया जाना' अपराध भी हो सकता है और विक्षिप्तता भी, सीमाएँ जो सम्मानित वीरता को अपराध से और विक्षिप्तता को जीवनजयी बुद्धिमत्ता से पृथक करती हैं अनिश्चयपूर्ण और शुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक होती हैं, यद्यपि अंत में जब विकृति स्वयं को पूरी तरह दृश्यमान और स्पष्ट कर देती है तब और अधिक भ्रम नहीं रह जाता।

इस अर्थ में महाकाव्य और त्रासदी न तो अपराध से परिचित होते हैं और न ही विक्षिप्तता से। जिसे दैनंदिन जीवन की पारंपरिक अवधारणाओं द्वारा अपराध कहा जाता है वह या तो उनके लिए होता ही नहीं है, या प्रतीकात्मक रूप में स्थिर और इंद्रियों द्वारा दूर से ग्राह्य उस बिंदु के अतिरिक्त कुछ नहीं होता जिस पर आत्मा का अपनी उस नियति से संबंध, जो आधिभौतिक गृह-विरह का वाहक होती है, दृश्यमान हो जाता है महाकाव्य जगत या तो शुद्ध रूप से बालक की भाँति सरल होता है जिसमें स्थिर और पारंपरिक मूल्यों के अतिक्रमण से ऐसा प्रतिरोध जुड़ा होता है जिसका पुनः अंनतकाल तक प्रतिकार होते रहना चाहिए, अथवा यह ऐसा परिपूर्ण ईश्वरन्यायवाद होता है जिसमें अपराध और दंड विश्वन्याय की तुलनाओं में समान एवं परस्पर समांगी भारों के रूप में अवस्थित होते हैं।

त्रासदी में अपराध या तो कुछ भी नहीं होता या फिर एक प्रतीक होता है – वह या तो तकनीक के नियमों द्वारा अपेक्षित और निश्चित एक सामान्य सा तत्व होता है, या फिर सारवस्तु तथा संसार के बीच रूपों के टूटने का नाम है, वह एक ऐसा प्रवेश-द्वार होता है जिसके माध्यम से आत्मा अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करती है। विक्षिप्तता के विषय में महाकाव्य तब तक कुछ नहीं जानता जब तक कि विक्षिप्तता किसी ऐसे उच्च जगत की अज्ञेय भाषा न हो जिसके पास अभिव्यक्ति का कोई दूसरा साधन नहीं होता। अ-समस्यात्मक त्रासदी में विक्षिप्तता एक ऐसे अंत की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है जो या तो शारीरिक मृत्यु द्वारा समाने आए या निजता की मूल अग्नि द्वारा नष्ट होने वाली आत्मा की जीवित-मृत्यु के समान हो। कारण यह है कि अपराध और विक्षिप्तता असल में इंद्रियातीत गृह हीनता की वस्तुकृत

सच्चाइयां हैं। यह गृह हीनता उस कर्म की होती है जो सामाजिक संबंधों के मानवीय संयोजन के बीच किया जाता है, उस आत्मा की होती है जो निजता से ऊपर स्थित मूल्यव्यवस्था के आदर्शक्रम के बीच खड़ी होती है। प्रत्येक रूप अस्तित्व की आधारभूत विसंगति का समाधान प्रस्तुत करता है, प्रत्येक निरर्थक तत्व को उसके सही स्थान पर पुनःस्थापित कर देता है ताकि वह अर्थवत्ता की आवश्यक शर्त बन जाए, उसका सही वाहक बन जाए। जब साहित्यिक रूप के भीतर निरर्थकता की चरमावस्था का आत्मसात करना हो, जब वहाँ प्रामाणिक और गहन मानव आकांक्षाओं की व्यर्थता को या मनुष्य की अंतिम नगण्यता को ग्रहण करना हो, और जब निरर्थकता की व्याख्या करनी पड़े, उसे विश्लेषित करना पड़े और अंत में जिसकी ठोस उपस्थिति को स्वीकार करना पड़े, तब तक किसी स्पष्ट उद्देश्य के अभाव को, समूचे जीवन में किसी निर्णायक दिशाहीनता को चरित्रों और घटनाओं का आधारभूत एवं पूर्वनिश्चित हिस्सा स्वीकार करना पड़ेगा, उनकी मूल संरचना का तत्व मानना पड़ेगा।

जहाँ कोई उद्देश्य नहीं दिए होते, वहाँ वे संरचनाएँ जिनका सामना आत्मा को मनुष्य बनने की प्रक्रिया में करना पड़ता है और जो आत्मा की सक्रियता का क्षेत्र होती है अपने आधारों को खो देती है और निजता से ऊपर स्थित आवश्यकताओं के नियंत्रण में जकड़ जाती है, उस स्थान पर वे मात्र उपस्थित रहती हैं (शक्तिशाली होती है या क्षीण इसका कोई महत्व नहीं होता) लेकिन न तो उनके भीतर अंतिम सत्य की प्रतिष्ठा होती है और न ही वे अपन भीतर आत्मा की भरी-पूरी आभ्यंतरिकता को लिए होती है। वे परंपरा का संसार बनाती हैं, एक ऐसा संसार जिसकी शक्ति के विस्तृत दायरे से केवल आत्मा के सबसे गहरे कक्ष ही बचे होते हैं, एक ऐसा संसार जो रूपों की विविधता में सब जगह उपस्थित होता है, यद्यपि इन रूपों को समझना बहुत कठिन होता है। इस संसार के कठोर नियम, अपने बनने और होने की प्रक्रिया में जागरूक रचनाकार के लिए निश्चय ही स्पष्ट होते हैं, लेकिन अपनी नियमितता के बावजूद यह एक ऐसा संसार होता है जो न तो लक्ष्य अन्वेषी रचनाकार को अर्थवत्ता के रूप में प्राप्त होता है और न ही सक्रिय रचनाकार को एक मूर्त और प्रत्यक्ष पदार्थ के रूप में। यह दूसरी प्रकृति होती

है और प्रकृति (पहली प्रकृति) की भाँति इसे सर्व-स्वीकृत, यद्यपि संवेदना-विहीन, आवश्कयताओं के रूप में निश्चित किया जा सकता है, और इसीलिए यह समझ से परे, अपनी वास्तविकता में अज्ञेय होता है। लेकिन स्थिति यह है कि सर्जनात्मक साहित्य के लिए केवल सारवस्तु का ही अस्तित्व होता है और केवल वे ही सारवस्तुएँ जो परस्पर जुड़ी होती हैं संयोजनात्मक संबंधों की परस्परता और उनकी द्वंद्वात्मक एकता में प्रविष्ट हो सकती है।

यह हो सकता है कि गीतिकाव्य प्रथम प्रकृति के विस्तार की उपेक्षा कर दे और ठोस निजता की एक सरल कथावली अपने अज्ञान की भीतरी शक्ति में से निर्मित कर दे। गीतिकाव्य में कवेल महान् क्षण ही रहा करता है। यह वह क्षण होता है जिसमें प्रकृति और आत्मा की सार्थक एकता या उनका सार्थक अलगाव, जो आत्मा का आवश्यक एवं सर्वस्वीकृत अकेलापन हुआ करता है, शाश्वत बन जाते हैं। गीतमय क्षण में आत्मा की शुद्धतम आभ्यंतरिकता अनिवार्यतः काल से पृथक कर दी जाती है, वस्तुओं की अस्पष्ट विविधता से ऊपर उठा दी जाती है और इस तरह पदार्थ में परिवर्तित कर दी जाती है, जबकि अपरिचित और अज्ञेय प्रकृति भीतर से निकाल दी जाती है ताकि एक चमकते हुए प्रतीक में बंध सके। लेकिन आत्मा और प्रकृति के बीच स्थापित इस संबंध को केवल गीतमय क्षणों में ही निर्मित किया जा सकता है। वरना प्रकृति अपने अर्थाभाव के कारण एक ऐसे आकर्षक संग्रहकक्ष में परिवर्तित कर दी जाती है जो साहित्य के मूर्त प्रतीकों से भरा होता है। वह अपनी अद्भुत गतिशीलता में बंधी हुई दिखलाई पड़ती है और केवल गीतमयता के जादुई शब्दों से ही यह संभव हो पाता है कि उसे एक अर्थपूर्ण और प्रेरणादायी शांति मिल सके। ये क्षण केवल गीति कविता के लिए ही निर्माणकारी और रूपनियामक होते हैं, केवल गीति कविता में ही सारतत्व के ये प्रत्यक्ष एवं आकस्मिक प्रकाश-चित्र इस तरह दिखलाई पड़ जाते हैं मानो कोई अज्ञात पांडुलिपि अचानक समझ आने लगे, केवल गीति कविता में ही ऐसे अनुभवों का वाहक रचनाकार अर्थवत्ता के, एकमात्र सही वास्तविकता के, अकेले माध्यम में बदल जाता है। नाटक को ऐसे क्षेत्र में प्रस्तुत किया जाता है जो इस यथार्थ से दूर हो, और महाकाव्य रूपों में निजी अनुभव रचनाकार के भीतर सीमित रहता है : वह मनोदशा बन जाता है। और अपने

'इंद्रियविहीन' स्वायत्त जीवन तथा सार्थक प्रतीकात्मकता से वंचित प्रकृति एक पृष्ठभूमि बन जाती है, दृश्यावलि का एक टुकड़ा, एक सहयोगी स्वर बन जाती है, वह अपनी स्वतंत्रता खो चुकी होती है और सारवस्तु का, आभ्यंतरिकता का केवल एक मूर्त तथा दृश्य विस्तार बन जाती है।

दूसरी प्रकृति के पास, मनुष्य निर्मित संरचनाओं की प्रकृति के पास, कोई गीतमय सारतत्व नहीं होता, उसके रूप इतने रूढ़ और कड़े होते हैं कि प्रतीक-निर्माता क्षण के साथ मिल कर नहीं चल सकते, दूसरी प्रकृति की वस्तु अपने नियमों के नियंत्रण में बंधी हुई इतनी स्पष्ट एवं सुपरिभाषित होती है कि उन तत्वों से मुक्त नहीं हो सकती जिन्हें गीति कविता में निबंधात्मक बनना पड़ता है। इससे भी आगे कहें तो ये तत्व नियमों की कृपा पर इतने अधिक आश्रित होते हैं, नियमों से विमुक्त ऐंद्रिक शक्ति से इतने अधिक वंचित होते हैं कि उनके बिना वे अर्थहीनता में बदल कर विघटित हो सकते हैं। यह प्रकृति पहली प्रकृति की भाँति गूंगी नहीं होती, और न ही उसकी भाँति मूर्त, यद्यपि इंद्रियविहीन होती है : यह इंद्रियों का – अर्थों का – एक ऐसा समूह होती है जो रूढ़ तथा अजनबी बन गया है और जो अब आभ्यंतरिकता को जाग्रत नहीं करता, यह बहुत पहले मृत आभ्यंतरिकताओं का मुर्दाघर होता है। यदि इस दूसरी प्रकृति को जीवित करना संभव हो तो उसका केवल एक ही तरीका है कि आत्माओं को जाग्रत करने का वही आध्यात्मिक कर्म किया जाए जिसने इसके प्रारंभिक अथवा आदर्श अस्तित्व की या तो रचना की थी या उसे बचा कर रखा था। इसे किसी दूसरी आभ्यंतरिकता द्वारा कभी जीवित नहीं किया जा सकता। यह आत्मा की आकांक्षाओं के इतनी निकट होती है कि आत्मा इसे मनोदशाओं के कच्चे माल की तरह ग्रहण नहीं कर सकती, और साथ ही उन आकांक्षाओं से इतनी दूर होती है कि कभी भी उनकी सही एवं तार्किक अभिव्यक्ति नहीं बन सकती। पहली प्रकृति से अलगाव होना, जिसे प्रकृति की ओर आधुनिक दृष्टिकोण कहा जाता है, केवल मनुष्य के अनुभव का एक विस्तार होता है, और यह अनुभव इस तथ्य से पैदा होता है कि मनुष्य निर्मित परिवेश एक बंदीगृह है, पैतृक गृह नहीं।

जब मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए बनाई गई संरचनाएँ मनुष्य के लिए वास्तव उपयुक्त होती है तो वे उसका आवश्यक और मूल निवास बन जाती है, तब वह यह नहीं जानता कि गृहासक्ति जैसी कोई चीज़ हुआ करती है जो प्रकृति को अपनी खोज और प्राप्ति का विषय बनाती है, उसका अनुभव करती है और उसे स्थापित करती है। पहली प्रकृति जिसे शुद्ध ज्ञान के लिए बनाई गई नियमावली के रूप में, या शुद्ध भावना को सुख देने वाली वस्तु के रूप में, परिभाषित किया जाता है तब ऐसी ऐतिहासिक-दार्शनिक वस्तुकरण बन जाती जो मनुष्य के अपनी संरचनाओं से अलगाव के संदर्भ में उत्पन्न होता है।

जब इन रचनाओं का आत्मातत्व और अधिक समय तक आत्मा नहीं बन सकता, जब रचनाएँ उन आभ्यंतरिकताओं का समूह न प्रतीत होती हों, जो किसी भी क्षण पुनः आत्मा में रूपांतरित हो सके, तब उन्हें जीवित रहने के लिए अनिवार्य रूप से एक ऐसी शक्ति प्राप्त करनी होती है जो मनुष्यों को विवेकहीन रूप में, निश्चित रूप से तथा चुनाव का अवसर दिए बिना शासित करती है। और इसलिए मनुष्य उस शक्ति की पहचान को जो उन्हे दासता में बांधती है 'नियम' कहकर पुकारते हैं, और उसकी सर्वशक्तिमानता और सार्वकालिकता के समक्ष उत्पन्न हुई निराशा को अपने मस्तिष्कपटल पर 'नियम' के रूप में विकसित करते हैं – उसे एक भव्य और उच्चतादायक तर्क के रूप में विकसित करते हैं, एक ऐसी आवश्यकता के रूप में विकसित करते हैं जो शाश्वत, अपरिवर्तनीय और मनुष्य की पहुँच के बाहर है।

नियमों की प्रकृति और मनःस्थितियों की प्रकृति आत्मा में स्थित एक ही बिं से उत्पन्न होती है : वे पहले से मान कर चलती है कि एक ठोस और अर्थपूर्ण सारतत्व असंभव है, कि विधायक रचनाकार के उपयुक्त विधायक लक्ष्य ढूंढ पाना असंभव है। प्रकृति के अपने अनुभव में रचनाकार, जो केवल अकेला ही वास्तविक होता है, पूरे संसार को अपनी मनःस्थिति में विलयित कर देता है, और मननशील रचनाकार तथा उसके लक्ष्य के बीच विद्यमान सारवस्तु की पहचान के बल पर अपने आप भी मनःस्थिति बन जाता है। एक ऐसे संसार को जानने की इच्छा जिसमें से सब इच्छाएँ एवं आकांक्षाएँ हटा

दी गई हैं जो इस तरह शुद्ध हो गई हैं, रचनाकार को ज्ञानात्मक कार्यों के ऐसे मूर्त रूप में बदल देती है जो रचनाकार-निरपेक्ष तथा निर्माणकारी होता है और ज्ञानात्मक कार्यों का सर्जक प्रतिनिधि होता है। ऐसा होना अनिवार्य है चूँकि रचनाकार विधायक तभी होता है जब वह अपने भीतर से क्रिया करता है -- अर्थात् केवल नैतिक आचरण से बद्ध रचनाकार ही विधायक होता है। वह नियमों और मनःस्थितियों के आक्रमण का लक्ष्य होने से तभी बच सकता है जब उसकी क्रियाओं का, उसकी क्रियाओं के आदर्शमूलक लक्ष्य का क्षेत्र शुद्ध आचरण-नियमों द्वारा बना हो। जब औचित्य और परंपरा नैतिकता के समरूप हों : तब आत्मा मनुष्य-निर्मित संरचनाओं में उतना ही प्रविष्ट करती है जितना मनुष्य के कार्यक्षेत्र के लिए आवश्यक हो। ऐसी स्थितियों में आत्मा के लिए आवश्यक नहीं कि किन्हीं नियमों को स्वीकृत करें, क्योकि आत्मा स्वयं ही मनुष्य का नियम होती है और मनुष्य प्रत्येक सारतत्व पर जिसके सामने उसे स्वयं को प्रमाणित करना है एक ही आत्मा का एक ही चेहरा देखेगा। ऐसी स्थितियों में यह बात छोटी एवं व्यर्थ ही प्रतीत होगी कि गैर-मानवीय संसार के अजनबीपन पर विजय पाने के लिए रचनाकार की भावोत्पादक शक्ति का सहारा लिया जाए : मनुष्य का महत्वपूर्ण संसार वह है जहाँ आत्मा, मनुष्य के रूप में अथवा देवता या दानव के रूप में, घर जैसा अनुभव करे : तब आत्मा अपनी आवश्यकता की हर वस्तु को प्राप्त करती है, उसे अपने भीतर से किसी वस्तु को निर्मित या अनुप्राणित नहीं करना होता, क्योंकि उसका अस्तित्व एक ऐसी वस्तु को खोजने, एकत्र करने तथा ढालने की क्रिया से परिपूर्ण होता है जो उसकी मूल प्रकृति के अनुकूल होती है।

महाकाव्य का व्यक्ति, जो उपन्यास का नायक होता है, बाह्य जगत के साथ होने वाले अलगाव से उत्पन्न होता है। जब संसार अपने भीतर समरूप होता है तो मनुष्य एक दूसरे से गुणात्मक रूप में भिन्न नहीं होते, यह सही है कि सार में नायक और खलनायक, साधु-पुरुष और अपराधी हुआ करते हैं, किन्तु महानतम नायक भी अपने साथी मनुष्यों के समूह से कुछ ही ऊंचा होता है, और बुद्धिमान व्यक्ति के गरिमामय शब्द सबसे मूर्ख मनुष्य द्वारा भी माने जाते हैं। आभ्यंतरिकता का स्वायत्त जीवन केवल तभी संभव एवं आवश्यक होता है जब मनुष्यों के बीच के विभेद एक अपूरणीय खाई बन

जाते हैं, जब देवता मौन हो जाते हैं और न तो बलि और न ही भाषाओं की सौंदर्यसर्जक शक्ति उनके प्रश्नों के समाधान में समर्थ होते हैं, जब कार्यों का संसार स्वयं को मनुष्यों से अलग कर लेता है और इस स्वतंत्रता के कारण खोखला हो जाता है, जब वह कार्यों के सही अर्थ को आत्मसात करने में, कार्यों के माध्यम से प्रतीक बनने में तथा उन्हें प्रतीक बनाने के लिए तोड़ने में असमर्थ हो जाता है, जब आभ्यंतरिकता और साहसिक कर्म एक दूसरे से सदा के लिए अलग हो जाते हैं।

सही बात करें तो महाकाव्य का नायक कभी व्यक्ति नहीं होता। यह एक परंपरागत विचार है कि महाकाव्य की मूल विशेषताओं में से एक यह है कि उसका विषय एक व्यक्ति की नियति न होकर एक जनसमुदाय की नियति होती है। और यह सही भी है क्योंकि उस मूल्यव्यवस्था की पूर्णता और वृत्तात्मकता जो महाकाव्य के वातावरण को निश्चित-नियमित करती है एक ऐसी समग्रता, एक ऐसे पूर्ण का निर्माण करती है जो इतना परस्पर संबद्ध और आवयविक होता है कि उसका कोई अंग अपनी ही निजता के भीतर बंद नहीं हो सकता, इतना आत्मनिर्भर नहीं हो सकता कि अपनी ही आभ्यंतरिकता खोज ले – अर्थात् एक व्यक्तित्व बन जाए। व्यवहारशास्त्र की दुर्जेय शक्ति जो प्रत्येक आत्मा को स्वायत्त एवं अद्वितीय बनाती है ऐसे संसार में अज्ञात हुआ करती है। जब जीवन ज्ञेय रूप में अपनी अर्थव्याप्ति को पहचानता है तो आवयविक जीवन की विभिन्न धाराएँ प्रत्येक वस्तु को नियंत्रित करने लगती हैं, पूर्ण और उसके भाग के बीच पाया जाने वाला संतुलन, जो उनके पारस्परिक नियंत्रण का परिणाम है किसी भी एक संरचना और आकृति को उत्पन्न करता है, संरचना और आकृति कभी भी खोए हुए और अकेले व्यक्ति के भीतर चलने वाले विवाद या विचार का परिणाम नहीं होते। यही कारण है कि वृत्तात्मक संसार में एक घटना की सार्थकता सदा मात्रात्मक हुआ करती है, साहसिक कार्यों की वह कतार जिसके माध्यम से घटना स्वयं को व्यक्त करती है केवल इसलिए महत्वपूर्ण होती है कि उसे एक महान आवयविक जीवन की योजना में – एक राष्ट्र या परिवार में – स्थान मिलता है।

राजा महाकाव्यों के भी नायक हुआ करते हैं और त्रासदियों के भी, लेकिन वे वहाँ क्यों होते हैं इसका कारण महाकाव्य में एक होता है और त्रासदी में दूसरा (यद्यपि यह सही है कि ये कारण रूप-संबंधी भी होते हैं)। त्रासदी में नायक का राजा होना इसलिए अनिवार्य होता है कि नियति के ज्ञानात्मक मार्ग से जीवन की साधारण महत्वहीन बातें हटाई जा सकें – कारण यह है कि सामाजिक रूप से शक्तिशाली व्यक्ति ही ऐसा चरित्र हो सकता है जिसके द्वंद्व एक प्रतीकात्मक अस्तित्व के मूर्त भ्रम को सुरक्षित रखते हुए भी केवल त्रासदिक समस्या के बीच उत्पन्न होते हैं, राजा ही ऐसा चरित्र बन सकता है जिसे बाहरी आकृति के रूपों को भी दृष्टि में रखते हुए सार्थक अलगाव के अपेक्षित वातावरण से आवृत्त किया जा सके।

त्रासदी में जो प्रतीक होता है महाकाव्य में वही यथार्थ बन जाता है : यथार्थ उन बंधनों का भार वहन करता है जो व्यक्ति की नियति को समग्रता से जोड़ते हैं। विश्व-नियति ही, जो त्रासदी में शून्य अंकों की एक ऐसी संख्या भर होती है कि उसे एक के अंक के सामने रख कर लाख या करोड़ बना दिया जाए, वास्तव में महाकाव्य की घटनाओं को उनकी वस्तु प्रदान करती है : अपनी नियति के वाहक के रूप में महाकाव्य का नायक अकेला नहीं होता क्योंकि यह नियति दृढ़ सूत्रों द्वारा उसे ऐसे जनसमुदाय से बांध देती है जिसका भाग्य उसके अपने भाग्य के भीतर रूपायित होता है।

जहाँ तक जनसमुदाय का प्रश्न है, विश्व-नियति एक आवयविक – और इसलिए अंदर से ही सार्थक – मूर्त समग्रता होती है, यही कारण है कि महाकाव्य में पाई जाने वाली साहसिकता का सारतत्व सदा तर्कपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए होता है कभी पूरी तरह बंद नहीं होता, यह सारतत्व अनंत आभ्यंतरिक समृद्धि का एक अवयव होता है, और इस रूप में दूसरी साहसिकता जैसा तथा उसके समरूप होता है।

जिस प्रकार होमर के महाकाव्य यदि मध्य में ही प्रारंभ होते हैं और अंत में जाकर भी समाप्त नहीं होते तो यह एक सच्ची महाकाव्य मानसिकता का प्रतिबिंबन एवं उदाहरण है, ऐसी मानसिकता का जो शिल्पकलात्मक निर्मिति के किसी रूप के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव लिए रहती है, और वहां किसी

बाह्य विषय को ले आना – जैसे 'सांग आफ दि निबेलुग्स' में दीत्रिच वान बार्न को – इस संतुलन को कभी भी विचलित नहीं कर सकता, क्योंकि महाकाव्य में प्रत्येक वस्तु का अपना निजी जीवन होता है और वह प्रत्येक वस्तु अपनी संपूर्णता अपनी निजी आंतरिक सार्थकता से प्राप्त करती है। बाहर से आने वाला तत्व अपना हाथ केंद्रीय तत्व की ओर शांति से बढ़ा सकता है, मूर्त वस्तुओं के बीच सामान्य संपर्क से मूर्त संबंध निर्मित होते हैं, और बाह्य तत्व, अपनी परिप्रेक्ष्यात्मक दूरी तथा अपनी अब तक अप्राप्त समृद्धि के कारण पूर्ण एकता के लिए खतरा नहीं बनता, और इसके बवजूद उसकी एक सुस्पष्ट आवयविक सत्ता होती है।

दांते अकेला वह महान् उदाहरण है जिसमें हम शिल्पकलात्मक तत्व को स्पष्टतया आवयविक तत्व पर विजय पाता देखते हैं, और इसलिए वह शुद्ध महाकाव्य से उपन्यास तक के ऐतिहासिक दार्शनिक संक्रमण का प्रतिनिधित्व करता है। दांते में अभी सच्चे महाकाव्य की परिपूर्ण अंतर्व्याप्त दूरीहीनता और पूर्णता मिलती है, किंतु उसके पात्र पहले से ही व्यक्ति बन चुके हैं, ऐसे व्यक्ति जो सचेत रूप में और शक्तिपूर्वक अपने को एक ऐसे यथार्थ के विरोध में स्थापित करते हैं जो उनके लिए बंद हो चुकी है, ऐसे व्यक्ति जो इस विरोध के माध्यम से वास्तविक व्यक्तित्व बन जाते हैं। दांते की समग्रता का अंगीभूत बहुल व्यवस्थित होता है, वह आवयविक अंगों की एकता की महाकाव्यात्मक स्वतंत्रता को समाप्त करता है और उन्हें सोपानिक क्रम से आबद्ध, स्वायत्त अंगों में रूपांतरित करता है। यह सही है कि इस प्रकार की वैयक्तिकता नायक की अपेक्षा द्वितीयक पात्रों में ही अधिक मिलती है। अंगों की एकता द्वारा अपना स्वायत्त गीतात्मक जीवन बनाए रखने की प्रवृत्ति (वह श्रेणी जो पुरातन महाकाव्य में अज्ञात एवं अज्ञेय होती है) ज्यों ज्यों केंद्र से दूर होती जाती है वैसे ही वह क्रमशः बाहरी रेखा की ओर भी बढ़ती जाती है।

महाकाव्य तथा उपन्यास की पूर्व धारणाओं की संयुक्ति और एक महाकाव्यात्मक कृति के रूप में उनका संश्लेषण दांते के संसार की द्वयात्मक संरचना पर आधारित होता है : जीवन और अर्थवत्ता का विभेद जीवन के संयोग और एक समय की वर्तमानता में निहित अर्थ द्वारा, वास्तव में अनुभूत

इंद्रियातीतता द्वारा, पार कर लिया जाता है। धारणा और सिद्धांत से मुक्त पुरातन महाकाव्यों की आवयविक प्रकृति के विरोध में दांते अनुभवसिद्ध धारणाओं की क्रमबद्ध सीढ़ी खड़ी करते हैं। दांते को – और केवल दांते को ही – अपना नायक सामाजिक दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण और उदात्त नहीं बनाना पड़ा कि उसकी नियति जनसमुदाय की नियति के साथ निश्चित-नियमित होती हो। कारण यह था कि दांते के नायक का निजी अनुभव सामान्य मानव-नियति की प्रतीकात्मक एकता का प्रतिनिधित्व करता था।

4. उपन्यास का आंतरिक रूप

जार्ज लुकाच

दांते के संसार की समग्रता अवधारणाओं के व्यवस्थित समूह की वह समग्रता है जो सामने दिखाई पड़ती है। क्योंकि इस व्यवस्था का 'वस्तुपन' इंद्रियगम्य होता है, क्योंकि इसके बीच क्रियाशील अवधारणाओं और उनके ऊंच-नीच क्रम में वास्तविकता होती है, इसलिए पूर्णता और समग्रता जैसी श्रेणियों का चरित्र नियामक न होकर, संरचनात्मक होता है : इस कारण समग्रता के बीच चलने वाली यात्रा चाहे कितनी ही अजानी और आकस्मिक लगे, लेकिन वह सुसंचालित और सुरक्षित होती है, और इसी कारण महाकाव्य की रचना तब भी संभव हो सकी जब ऐतिहासिक-दार्शनिक स्थिति ने उपन्यास की माँग करनी प्रारंभ कर दी थी। उपन्यास के भीतर समग्रता को यदि व्यवस्था दी जा सकती है तो केवल अमूर्त रूप में, इसी कारण ऐसी कोई भी व्यवस्था जो उपन्यास में खड़ी की जा सकती है – जब रचना का आवयविक तत्व लुप्त हो चुका हो तो वृत्ताकार समग्रता का एकमात्र संभव रूप व्यवस्था ही रह जाती है – अमूर्त अवधारणाओं की ही हो सकती थी और इसलिए वह सौंदर्य-रूप पाने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती थी। यह सही है कि इस प्रकार का व्यवस्थाकरण समूची संरचना का अंतिम आधार होता है, लेकिन उपन्यास की निमित वास्तविकता में जो सामने आता है वह व्यवस्थाकरण के मूर्त जीवन से पृथक करने वाला फासला होता है : यह ऐसा व्यवस्थाकरण

होता है जो वस्तु संसार की रूढ़िवादिता और निजी संसार की आभ्यंतरिकता पर बल देता है। इस प्रकार उपन्यास के तत्व, हीगेलीय अर्थ में, पूरी तरह अमूर्त होते हैं, अमूर्त होता है काल्पनिक परिपूर्णता के लिए अतीत में लौटने का व्यामोह जिससे उपन्यास के पात्र ग्रसित होते हैं, एक ऐसा व्यामोह जो अपने को और अपनी इच्छाओं को ही एकमात्र सच्ची वास्तविकता मानता है, अमूर्त होता है सामाजिक संरचनाओं का वह अस्तित्व जो संरचनाओं की उपस्थिति के तथ्य मात्र पर और उनके चलते रहने की क्षमता पर आधारित होता है, और अंत में, अमूर्त होता है वह रूपदायी अभिप्राय जो तत्वों के इन दो अमूर्त समूहों के बीच की दूरी को पाटने के बजाय उन्हें वैसे ही बना रहने देता है, जो इस दूरी को पाटने की कोशिश तक नहीं करता, बल्कि उपन्यास के पात्रों के वास्तविक अनुभव के रूप में उसे इंद्रियगम्य बना देता है, इस दूरी को दोनों समूहों को जोड़ने का साधन बनाता है और इस तरह इसे लेखन के एक उपकरण में बदल देता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि उपन्यास की मूलतः अमूर्त प्रकृति से क्या क्या खतरे उत्पन्न होते हैं : गीतात्मकता या नाटक में चले जाने का खतरा, यथार्थ को संकुचित कर देने का खतरा, ताकि कृति एक सुंदर चित्र-गीत बन जाए, अपने स्तर से इतना नीचे चले जाने का खतरा कि कृति सस्ते मनोरंजन का साहित्य हो जाए। इन खतरों से बचने का एक ही रास्ता है कि संसार की क्षीण और अपूर्ण प्रकृति को ही अंतिम यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाए : सचेत और संगत रूप में उस प्रत्येक वस्तु को उभारते हुए जो संसार की सीमाओं से परे तथा बाहर की ओर संकेत करती है।

एक कलारूप जीवन की पराभौतिक विषमता को इस तरह अपनाता और आयोजित करता है कि उसे 'अपने-में-पूर्ण' एक समग्रता बना सके और इसी **से** प्रत्येक कलारूप परिभाषित होता है, इसके परिणामस्वरूप जो संसार **उ**भरता है उसका मूड तथा वह वातावरण जिसमें इस प्रकार निर्मित व्यक्तियों **और** घटनाओं को निजत्व मिलता है उस खतरे से नियमित होते हैं जो **उ**परोक्त विषमता के अपूर्ण रह जाने से पैदा होता है, और इसलिए जो रूप **का** विरोध करने लगता है। उपन्यास के हिस्से आने वाली विषमता का विशेष ***गुण यह होता है कि सारभूत जीवन की व्यापक अनुभ के जीवन में***

पर्दापण करने से इनकार कर देती है जिससे रूप की ऐसी समस्या पैदा हो जाती है जो दूसरे प्रकार की कलाओं की रूप संबंधी प्रकृति से कम स्पष्ट होती है, और जो चूंकि विषयवस्तु की समस्या दिखलाई पड़ती है। इसलिए यह अपेक्षा करती है कि उसे उन समस्याओं से भी अधिक जो शुद्ध रूप संबंधी होती है आचरण संबंधी और सौंदर्यमूलक तर्कों द्वारा परखा जाए।

महाकाव्य का स्वभाव बच्चे जैसा सरल होता है, जबकि उपन्यास, इसके ठीक विपरीत, परिपक्व और सशक्त होता है (नाटक चूंकि जीवन के हाशिए पर रहता है इसलिए वह इतिहासगत कालखंडों के बाहर होता है – चाहे हम इन कालखंडों की कल्पना पूर्वनिर्मित श्रेणियों तथा आदि अवस्थाओं के रूप में ही क्यों न करें)। उपन्यास का स्वभाव परिपक्व और सशक्त होता है : इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम उपन्यास के संसार की समग्रता को वस्तुपरक ढंग से देखें तो वह अपूर्ण बन जाती है और यदि आत्मपरक ढंग से देखें तो वह परित्यक्त लगने लगती है। उपन्यास को नियंत्रित करने से दो तरह का खतरा पैदा होता है : या तो संसार की अशक्तता इतने स्थूल रूप में सामने आती है कि वह रूप द्वारा अपेक्षित अर्थव्याप्ति को समाप्त कर देती है, या संसार की असंगति को ठीक करने, स्थापित करने और आत्मसात करने की इच्छा इतनी अधिक हो जाती है कि वह उपन्यास के संसार के वृत्त को समय से पहले ही बंद कर देती है, जिस कारण रूप कितने ही असमान और पृथक भागों में बंट कर बिखर जाता है। संसार की अशक्तता को ऊपरी तौर पर छिपाया जा सकता है, लेकिन उसे समाप्त नहीं किया जा सकता, इसका परिणाम यह होता है कि यह अशक्तता उपन्यास के भीतर एक ऐसे कच्चे माल के रूप में दिखलाई पड़ती है, जिसका कमज़ोर विधान बाद में नष्ट हो जाएगा। दोनों ही अवस्थाओं में, संरचना अमूर्त रहती है। चूंकि अमूर्तता अपने चरित्र को पहचान लेती है, इसलिए उपन्यास के अमूर्त आधार को रूप मिलता है, रूप द्वारा अपेक्षित अर्थ व्याप्ति केवल तभी मिलती है जब लेखक अर्थ के अभाव को उघाड़ने की दिशा में अंत तक निर्द्वंद्व भाव से जाता है।

कला जीवन से सदा यही कहती है : 'यह ठीक है, लेकिन!' क्योंकि रूप ग

है। लेकिन बाकी सब विधाओं में – यहाँ तक कि महाकाव्य में भी (और अब हम इसका कारण भी जानते हैं) -- असंगति की यह पहचान रूपदायी क्रिया से पहले ही हो जाती है, जबकि उपन्यास में यह पहचान रूप में ही होती है। यही कारण है कि उपन्यास की रचना प्रक्रिया में आचरण सिद्धांतों और सौंदर्य सिद्धांतों के बीच का संबंध एक तरह का होता है और साहित्य की अन्य विधाओं मे दूसरी तरह का। दूसरी विधाओं में आचरण-सिद्धांत एक शुद्ध औपचारिक पूर्वापेक्षा होती है जो अपनी गहराई द्वारा तो रूप-नियामक सारवस्तु को उत्पन्न होने देती है और अपने विस्तार द्वारा उस समग्रता को संभव बनाती है, जो इसी तरह रूप द्वारा नियमित होती है और अपने अतिशय व्यापक स्वभाव द्वारा कृति के घटक-तत्वों के बीच एक संतुलन स्थापित करती है -- यह एक ऐसा संतुलन होता है, जिसके लिए न्याय 'शुद्ध आचरण-सिद्धांतों की भाषा का एक शब्द मात्र होता है। इसके विपरीत, जहाँ तक उपन्यास का संबंध है, आचरण-सिद्धांत -- अर्थात् आचरण-सिद्धांत से संबंधित आशय -- प्रत्येक विवरण की बुनावट में दिखलाई पड़ता है और इसलिए वह अपनी अधिकतम मूर्त वस्तु में स्वयं कृति का एक सशक्त संरचनात्मक तत्त्व होता है।

दूसरी विधाएँ अपने निर्मित रूप में अस्तित्व में होती हैं, जबकि उपन्यास पूरी तरह बना हुआ न होकर बनने की प्रक्रिया में दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि यदि कलात्मक दृष्टिकोण से देखें तो उपन्यास सबसे अधिक जोखिम वाली विधा होती है, और यही कारण है कि जो लोग 'वस्तु के भीतर समस्या है' और 'वस्तु स्वयं समसयामूलक है' के बीच भेद नहीं कर पाते उपन्यास को केवल आधी कला मानते हैं। हो सकता है कि ऐसी बात विश्वसनीय लगे। कारण यह है कि दूसरी विधाओं के विपरीत उपन्यास में एक ऐसा जुड़वाँ सहोदर बसा होता है जो आकृति में वक्र और विद्रूप दिखलाई पड़ता है और जिसे सभी सामान्य औपचारिक विशेषताओं में उपन्यास से अलग नहीं किया जा सकता। मनोरंजन प्रदान करने वाले उपन्यास के भीतर यद्यपि उपन्यास के सभी ऊपरी तत्व होते हैं लेकिन वह सार रूप में न तो किसी चीज़ से जुड़ा होता है और न ही किसी चीज़ पर

आधारित होता है, अर्थात् पूर्णतः निरर्थक होता है। दूसरी विधाओं में, जहाँ यह माना जाता है कि मनुष्य की सत्ता पहले ही प्राप्त हो चुकी है, इस तरह का विद्रूप और वक्र जुड़वां सहोदर नहीं मिल सकता, क्योंकि इस (युग्म) के संदर्भ में यह बात क्षण भर के लिए भी नहीं छिपाई जा सकती कि इसका निर्माण कुछ गैर कलात्मक तत्वों द्वारा होता है, जबकि उपन्यास में मात्र ऊपरी समानता से यह भ्रम पैदा हो सकता है कि यह कोई वक्र और विद्रूप आकृति नहीं बल्कि वास्तविकता है। कारण यह है कि उपन्यास में सशक्त बंधन और निर्माणकारी विचारों की प्रकृति नियामक और गुप्त होती है, और यह भी कि उसकी प्रक्रिया, जिसकी वास्तविक विषयवस्तु को समझाया नहीं जा सकता, तथा खोखली प्राणवत्ता के बीच एक ऊपरी समानता होती है। लेकिन यदि हम किसी भी विशिष्ट कृति को ध्यान से देखें तो इस विद्रूप की सही प्रकृति उद्‌घाटित हो जाएगी।

उन दूसरे तर्कों में भी सच्चाई की केवल एक समानता ही दिखलाई पड़ती है जिनका इस्तेमाल उपन्यास की सही कलात्मक प्रकृति को नकारने के लिए किया जाता है – यह केवल इसी कारण नहीं कि स्वभाविक अपूर्णता और समस्यामूलक प्रकृति अपने ऐतिहासिक-दार्शनिक अर्थ में उपन्यास का सच्चा रूप होती है और इस तरह अपने आधार को, समकालीन चेतना की सच्ची दिशा को, प्राप्त करके अपनी स्वीकार्यता को सिद्ध करती है, बल्कि इसलिए भी कि उपन्यास की प्रकृति अपनी प्रक्रिया में पूर्णता को वहीं तक नकारती है, जहाँ तक वह विषयवस्तु से संबंधित होती है। उपन्यास जहाँ तक रूप है वहाँ तक 'बनने' और 'होने' के बीच एक अस्थिर यद्यपि दृढ़ संतुलन स्थापित करता है, बनने के पीछे काम करने वाला यह विचार एक मूर्त अवस्था बन जाता है। इस प्रकार उपन्यास स्वयं को बनने की स्वाभाविक दशा में ढालता है और स्वयं से ऊपर उठ जाता है। 'यात्रा समाप्त हो जाती है : मार्ग प्रारंभ हो जाता है।'

इसलिए उपन्यास की 'आधी कला' अपने लिए दूसरे बंद 'कला रूपों' की अपेक्षा अधिक कठोर, अधिक अकाट्य कलात्मक नियमों को अपनाती है, और ये नियम अपनी सारवस्तु में परिभाषा और व्याख्या से जितने ही परे होते हैं उतना ही आवश्यक और कठोर इनका बंधन हो जाता है: असल में ये

व्यवहार कुशलता के नियम होते हैं; वैसे तो कुशलता और रुचि अपने आप में ऐसी गौण वस्तुएँ होती हैं जो पूरी तरह जीवन-क्षेत्र से संबंध रखती है और सारवान नैतिक जगत के लिए अप्रासंगिक होती है, लेकिन उपन्यास में वे संरचना का हिस्सा होती है और इस कारण उनकी सार्थकता बहुत बढ़ जाती है। केवल उन्हीं के माध्यम से आत्मपरकता उपन्यास की समग्रता के आरंभ और अंत में स्वयं को संतुलन में रख पाती है और स्वयं को महाकाव्यसुलभ स्वाभाविक वस्तुपरकता के रूप में स्थापित करके उपन्यास में अंतर्निहित वर्धमान अमूर्तता के खतरे पर काबू पा सकती है।

इस खतरे को दूसरे ढंग से परिभाषित किया जा सकता है। उपन्यास में रूप की संरचना आचरण-सिद्धांत के हाथ में होती है और वह किसी पूर्वनिश्चित रूप-योजना द्वारा नहीं बल्कि विषयवस्तु द्वारा तय होती है, साथ ही यहाँ पर संयोग की बात, अथवा जीवन के मूल आचरण-सिद्धांत तथा वास्तविक सामाजिक आचरण के परस्पर निकट चले आने की बात, उस तरह प्रकट नहीं होती जैसे महाकाव्य के युग में होती थी। इसलिए खतरा यह पैदा हो जाता है कि कहीं वास्तविक समग्रता छूट न जाए और उसकी जगह समग्रता का लेखकीय पक्ष ही उभर कर न सामने आ जाए और इस तरह उत्कृष्ट महाकाव्य द्वारा अपेक्षित स्वीकृति और वस्तुपरकता का लेखकीय प्रयोजन कहीं क्षीण न हो जाए या फिर बिल्कुल ही नष्ट न हो जाए। यह भी सच है कि इस खतरे को बाहर से काबू नहीं किया जा सकता, इसके साथ केवल अंदर से ही निपटा जा सकता है। कारण यह है कि यदि वह लेखकीयता अव्यक्त रह जाती है अथवा वस्तुपरकता के लिए होने वाली चाह में बदल जाती है तो यह समाप्त नहीं हो जाती। असल में इस प्रकार का मौन, इस प्रकार की चाह एक स्पष्ट सचेत लेखकीयता के बाह्य उद्घाटन की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मबद्ध होती है और इसलिए हीगेलीय अर्थ में कहीं अधिक अमूर्त होती है।

निजता की इस पहचान और लेखकीयता के इस आत्मनिषेध को उपन्यास के प्रथम सिद्धांतकारों, प्रारंभिक रोमैंटिसिज्म के सौंदर्यशास्त्री दार्शनिकों ने आयरनी (व्यंग्यवक्रता) कहा था। इसे उपन्यास रूप का घटक मानें तो यह एक आधारभूत दिशा परिवर्तन का द्योतक है – इसके माध्यम से स्वाभाविक

सृजन-चेतना एक ऐसी लेखकीयता में बदल जाती है जिसमें आभ्यंतरिकता का विकास हो चुका है, जो बाहरी संसार के शक्ति संगठनों का विरोध करती है और अपनी ललक के विषयों की छाप बाहरी संसार पर छोड़ने की चेष्टा करती है यह एक ऐसी लेखकीयता है जो चेतना तथा वस्तु के परस्पर असंबंधित संसारों की अमूर्त और सीमित प्रकृति को पहचानती है, इन संसारों को उनके अस्तित्व की आवश्यक शर्तों के रूप में देखकर उसके मूल चरित्र को समझ लेती है, और इस तरह उनके आरपार देखकर संसार की द्वैतता को बने रहने देती है। इसके साथ-साथ, रचनाशील लेखकीयता मूल रूप से परस्पर असंबंधित दो तत्त्वों की पारस्परिक आपेक्षिकता में एक संगतिबद्ध संसार की झलक देख लेती है और इस संसार को रूप प्रदान करती है। लेकिन यह संगतिबद्ध दिखने वाला संसार शुद्ध रूप से औपचारिक होता है, आंतरिक और बाह्य संसार की परस्पर विरोधी प्रकृति समाप्त नहीं हो जाती, उसको केवल आवश्यक मान कर स्वीकार कर लिया जाता है, वह लेखक जो इसे इस रूप मे पहचानता है स्वयं भी उतना ही आपेक्षिक होता है—अपनी आभ्यंतरिकता की सीमाओं से घिरा, बाह्य संसार का उतना ही हिस्सा – जितने वे चरित्र जो उसका विषय बन चुके हैं। यह व्यंग्यवक्रता उस ठंडी और अमूर्त श्रेष्ठता से नितांत भिन्न होती है, जो वस्तुपरक रूप को संकुचित करके आत्मपरक बना देती है औ समग्रता को इतना छोटा कर देती है कि वह उसका पक्ष मात्र रह जाता है, सैटायर (व्यंग्य) में यही होता है। उपन्यास में पर्यवेक्षक और सर्जक के रूप में लेखक व्यंग्य-वक्रता के हाथों मजबूर होता है कि अपने संसार की पहचान को स्वयं अपने पर लागू कर और जिस तरह वह स्वयं द्वारा निर्मित चरित्रों को निर्द्वंद्व व्यंग्यवक्रता का लक्ष्य बनाता है उसी तरह स्वयं को भी बनाए – वह विवश हो जाता है कि जिस तरह उत्कृष्ट महाकाव्य (साहित्य) के लिए अपेक्षा की जाती है वह स्वयं को एक शुद्ध ग्रहणकर्ता चेतना में बदल ले।

संसार अपनी क्षीणता को स्वयं ठीक करता है, व्यंग्यवक्रता इसी का नाम है : अनुपयुक्त संबंध स्वयं को परस्पर विरोधी उद्देश्यों और गलतफहमियों के एक काल्पनिक यद्यपि सुनियोजित वृत्त में ढाल लेते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु बहुपक्षीय दिखलाई पड़ती है, जिसमें चीज़ें अलग-थलग और फिर भी जुड़ी

हुई प्रतीत होती है, जहाँ चीज़े मूल्यवत्ता से युक्त होती हैं और फिर भी उससे पूर्णतया रहित होती है, जहाँ वे अमूर्त टुकड़ों के रूप में दिखलाई पड़ती हैं और मूर्त स्वायत्त जीवन की भाँति भी, विकसित होती भी जान पड़ती है और नष्ट होती हुई भी पीड़ा से ग्रसित लगती है और स्वयं पीड़ा भी प्रतीत होती है।

इस तरह एक बिलकुल नए आधार पर जीवन का एक नया परिप्रेक्ष्य उभर आता है – भागों की आपेक्षिक स्वतंत्रता और पूर्णता के साथ उनके जुड़ाव के बीच एक दृढ़ संबंध का परिप्रेक्ष्य। किंतु अपने जुड़ाव के बावजूद ये भाग अपनी दुर्निवार, अमूर्त स्वाधीनता को नही छोड़ सकते : और पूर्णता से उनका संबंध यद्यपि वह लगभग आवयविक संबंध जैसा होता है, शुद्ध और स्वाभाविक आवयविक संबंध न होकर अवधारणात्मक होता है जो बार-बार नष्ट होता रहता है।

लिखने की दृष्टि से लें तो इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि चरित्र और उनकी क्रियाएँ अपने भीतर प्रामाणिक महाकाव्य साहित्य की अनंतता लिए रहती है, फिर भी उनकी संरचना महाकाव्य की संरचना से मूलतः भिन्न होती है। उपन्यास के भीतर विद्यमान पदार्थ की प्रकृति मूलतः भिन्न होती है। उपन्यास के भीतर विद्यमान पदार्थ की प्रकृति मूलतः अवधारणात्मक और छद्म-आवयविक होती है। उसकी मौलिक भिन्नता इस बात में प्रकट होती है कि वह परस्पर संबद्ध, आवयविक और स्थिर न होकर असंबद्ध, आकस्मिक और बिखरावपूर्ण होती है। उपन्यास की इस आकस्मिक प्रकृति के कारण इसके अपेक्षतया स्वतंत्र भाग महाकाव्य के भागों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र, अधिक आत्मनिर्भर हो जाते हैं, और इसलिए उन्हें, यदि वे पूर्णता को नष्ट न करते हों, ऐसे तरीकों से प्रविष्ट कराना चाहिए कि वे भागों से कुछ अलग तथा ऊपर लगें। महाकाव्य के विपरीत, उपन्यास के भागे में एक दृढ़ निबंधात्मक और निर्माण-योजना संबंधी अर्थवत्ता होती है, चाहे वह केंद्रीय समस्या पर विपरीत दिशाओं में पड़ने वाले प्रकाश का रूप लेती हो (जैसा कि 'डान क्विगजोट' में विद्यमान नावेलाज में देखने को मिलता है) अथवा कुछ छिपे हुए चित्रों और डिज़ाइनों का जिन्हें भूमिका या पूर्वकथन के रूप में रख दिया जाता है और जो अंत में जाकर एक निर्णायक भूमिका निभाते हैं

(जैसा कि 'कन्फैशन्ज आफ ए ब्यूटीपुल सोल' में किया गया है)। अपेक्षतया स्वतंत्र भागों के अस्तित्व को मात्र उनकी उपस्थिति के बल पर सही नहीं ठहराया जा सकता।

उपन्यास के विभिन्न भाग रचना संयोजन के अधीन जुड़ते हैं और फिर भी अपना स्वतंत्र तथा भिन्न अस्तित्व रख पाते हैं। इसका महत्व होता अवश्य है लेकिन केवल एक लक्षण के रूप में, जिसका अर्थ यह हुआ कि इससे उपन्यास की समग्रता का रचनाविधान साफ-साफ दिखाई देने लगता है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि इस तरह का प्रत्येक उपन्यास अपनी विधागत संरचना के इस आत्यंतिक परिणाम को पूरी तरह सामने रखे हो। यदि इसी विशेष पक्ष पर समूचा बल दिया गया और उपन्यास के समस्यामूल को लांघने की चेष्टा की गई तो निश्चय ही रचनाविधान में कृत्रिमता और अतिशय सरलीकरण आ जाएँगे, जैसा कि रोमैंटिक लेखकों के साथ पाल अर्न्स्ट के प्रथम उपन्यास में हुआ।

यह पक्ष आकस्मिकता का केवल एक लक्षण होता है, यह उस घटना-स्थिति को सपष्ट करता है जो अनिवार्यतः सब कालों में और सब जगह होती है, लेकिन जो योजना के तहत प्रयोग किए जाने वाले कौशल और उसके पीछे काम करने वाली सूक्ष्म व्यंग्यवक्रता (आयरनी) से, आवयविक गुण की तरह दिखने वाले और बार-बार भ्रम के रूप मे प्रकट होने वाले तत्व से ढंका होता है।

उपन्यास का बाहरी रूप मूलतः आत्मकथा का होता है। संयोजनबद्ध अवधारणाओं की सीमा यह होती है कि वे जीवन को पूर्णता में नहीं पकड़ सकती दूसरी ओर संश्लिष्ट जीवन की कठिनाई यह होती है कि वह पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि पूर्णता अपने में कल्पनामूलक होती है। इन दोनों के बीच चलने वाला उतार-चढ़ाव केवल एक तरह से रूपायित किया जा सकता है और वह है आत्मकथा के उद्देश्य में निहित आवयविक गुण। एक ऐसी विश्व-स्थिति में जहाँ आवयविक तत्व यदि अस्तित्व को पूर्णतया नियंत्रित करने वाली वस्तु होता, एक जीवित मनुष्य के व्यक्ति-पक्ष को, उसकी सब सीमाओं के साथ-साथ, शैलीकरण का प्रारंभ-बिंदु और रूपदायी

क्रिया का केंद्र बनाना एक मूर्खतापूर्ण बात होती – यह आवयविक तत्व पर की गई एक अस्वभाविक हिंसा होती। एक ऐसे काल में जहाँ व्यवस्थाएँ विद्यमान हैं एक व्यक्ति-जीवन की उदाहरण रूप में दी गई सार्थकता एक उदाहरण से अधिक नहीं हो सकती : यदि उसे मूल्यों के वाहक के रूप में, न कि मूल्यों के आधार के रूप में, प्रस्तुत किया जाता, यह मानते हुए भी कि इस तरह से कार्य की कल्पना की जा सकती थी, तो यह बहुत ही हास्यास्पद अहंकार का कार्य होता। आत्मकथा रूप के अंतर्गत अकेले मनुष्य – व्यक्ति – की एक विशिष्ट गरिमा होती है जो जीवन की शक्ति के लिए स्वाभाविक से अधिक उच्च और व्यवस्था के समग्र नियंत्रण के लिए स्वाभाविक से अधिक निम्न होती है उसके अकेलेपन की मात्रा पहली स्थिति के लिए स्वाभाविक से अधिक बड़ी होती है और दूसरी स्थिति के लिए स्वाभाविक से अधिक निरर्थक होती है, जिस आदर्श का वह वाहक तथा प्रतिनिधि है उसके साथ मनुष्य का अपना संबंध पहली स्थिति के लिए स्वाभाविक से अधिक दृढ़ होता है और दूसरी के लिए पूरी तरह अपर्याप्त और गौण होता है।

आत्मकथा रूप में उस भावुक प्रयत्न को जो सफल नहीं हो सकता और जो इसलिए किया जाता है कि जीवन को और व्यवस्था के पूर्णतया वृत्ताकार रचना-संयोजन को तत्काल मिला दे, संतुलन प्रदान किया जाता है तथा गति रोक कर विश्राम की अवस्था में रख दिया जाता है : उसे 'होने में' बदल दिया जाता है। एक आत्मकथा में केंद्रीय चरित्र की सार्थकता केवल यही होती है कि उसका संबंध आदर्शों के ऐसे संसार से होता है, जो उससे ऊपर स्थित होता है : लेकिन इसके बदले उस संसार के अस्तित्व को उस व्यक्ति तथा उसके भोगे हुए अनुभव के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार, आत्मकथा रूप के भीतर उन दो क्षेत्रों का संतुलन, जो अकेले-अकेले अप्राप्त भी है और अप्राप्य भी, एक नए तथा स्वायत्त जीवन को पैदा करता है, ऐसा जीवन, जो कितना ही विरोधाभासपूर्ण क्यों न हो, अपने आपमें पूर्ण तथा अर्थवान होता है : यह जीवन होता है समस्यामूलक व्यक्ति का।

तात्कालिक संसार तथा समस्यामूलक व्यक्ति ऐसी सच्चाइयाँ हैं, जो एक दूसरे को नियमित करती हैं। यदि व्यक्ति समस्यामूलक है तो उसे अपने उद्देश्य स्पष्ट एवं सरल रूप में दिखलाई पड़ते हैं, और हो सकता है इन प्रदत्त उद्देश्यों द्वारा निर्मित संसार की प्राप्ति में कुछ बाधाएँ तथा कठिनाइयाँ पैदा हो जाएँ, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता कि व्यक्ति के आंतरिक जीवन को कोई गंभीर खतरा हो। असल में इस तरह का खतरा केवल तभी पैदा होता है जब बाहरी संसार का व्यक्ति के विचारों से तालमेल नहीं बैठ पाता और जब विचार व्यक्ति की आत्मा के आत्मपरक तथ्य – आदर्श – बन जाएँ। यदि हम विचारों को अप्राप्य की तरह और तथ्यात्मकता के अर्थ में अवास्तविक की तरह स्थापित करते हैं, अर्थात् उन्हे आदर्शों में बदल देते हैं, तो हम व्यक्ति की तात्कालिक समस्याविमुक्त आवयविक प्रकृति को नष्ट कर देते हैं। तब व्यक्तिपन अपने आप में एक उद्देश्य बन जाता है, क्योंकि तब वह अपने भीतर उस प्रत्येक वस्तु को पा लेता है जो उसके लिए सारवान होती है और जो उसके जीवन को स्वायत्त बनाती है – ऐसा तब भी होता है जब उसे प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु कभी उसके जीवन का आधार या उसकी अपनी वस्तु नहीं बनती, और केवल खोज का एक लक्ष्य बनी रहती है। लेकिन इसके विपरीत व्यक्ति के चारों ओर का संसार उन्हीं निर्णायक रूपों का पदार्थ और आधार होता है, जिन पर उसका आंतरिक जीवन टिका होता है, और उनसे केवल अपनी विषयवस्तु में भिन्न होता है, इसलिए 'सचाई जो है' और उनसे कवेल अपनी विषयवस्तु में भिन्न होता है, इसलिए 'सचाई जो है' और 'आदर्श जिसे होना चाहिए' के बीच की अलंघ्य खाई को अनिवार्यतः बाह्य संसार की सारवस्तु का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है, कारण यह है कि उनके पदार्थों की भिन्नता केवल संरचनात्मक होती है। यह भिन्नता स्पष्टतम रूप में सामने आती है आदर्श की शुद्ध नकारात्मकता के भीतर। लेकिन आत्मा के स्तर पर आदर्श भोगे हुए अनुभव में प्रविष्ट करता है और अपनी वस्तु में भी एक सीधी सकारात्मक भूमिका निभाता है, जबकि बाह्य संसार में सचाई और आदर्श ने बीच की दूरी केवल आदर्श की अनुपस्थिति द्वारा स्पष्ट होती है, इस अनुपस्थिति द्वारा पैदा होने वाली

सामान्य सचाई की आत्मालोचना के बीच, ऐसी सामान्य सचाई के अनस्तित्व के आत्मोद्घाटन के बीच जिसमें कोई भी व्याप्त आदर्श नहीं होता।

वास्तविकता द्वारा किया जाने वाला यह आत्मविनाश जिस रूप में उपस्थित होता है उस रूप में पूरी तरह बौद्धिक द्वंद्वात्मक प्रकृति का होता है तथा तत्काल किसी काव्यमयता या इंद्रियबोध के रूप में सामने नहीं आता। यह दो भिन्न रूपों में प्रकट होता है। पहला रूप है व्यक्ति की आभ्यंतरिकता और उसकी क्रियाओं के आधार के बीच विसंगति का, आभ्यंतरिकता जितनी सही होगी और उसके स्रोत जीवन के विचारों के, जो आत्मा में पहुँच कर आदर्श बन जाते हैं, जितने निकट होंगे, उतना ही अधिक स्पष्ट यह विसंगति हमें दिखाई पड़ेगी। दूसरा रूप है बाह्य संसार की सही पूर्णता पाने में असमर्थता – बाह्य संसार की विशेषता यह होती है कि आदर्शों से अपरिचित तथा आभ्यंतरिकता का शत्रु होता है। यह असमर्थता या तो ऐसी होती है कि अपने लिए समग्रता का रूप नहीं पा सकती, या फिर अपने तत्वों से अपने संबंध की, और उन तत्वों के पारस्परिक संबंध की संगति का रूप नहीं पा सकती : दूसरे शब्दों में, बाह्य संसार को प्रस्तुत किया ही नहीं जा सकता। ऐसे बाह्य संसार के भाग तथा उसकी पूर्णता ऐसे किसी रूप के साथ बंधने से मना करते हैं जो सीधी इंद्रियगम्य प्रस्तुति का माध्यम बनते हों। वे जीवन को पाते ही तब हैं जब या तो उन्हें उनकी उलझन में खोए हुए व्यक्ति की जीवनानुभवकारी आभ्यंतरिकता से जोड़ा जाए, या फिर कलाकार का निजी पर्यवेक्षक तथा सर्जक दृष्टि से जोड़ा जाए : अर्थात् जब वे मनोदशा या मनन-मंथन का लक्ष्य बन जाएँ।

यही वह बौद्धिक कारण और साहित्यिक व्याख्या है जिसके आधार पर रोमैंटिक लेखक मांग करते हैं कि उपन्यास के लिए ज़रूरी है कि वह सब विधाओं को अपने भीतर समेटते हुए शुद्ध गीतमय कविता और शुद्ध विचार को सम्मिलित करें। बाह्य संसार की विसंगतिपूर्ण प्रकृति यह माँग करती है कि महाकाव्यात्मक अर्थवत्ता और इंद्रियगम्य शक्ति के खातिर ऐसे तत्वों को सम्मिलित करना चाहिए जिनमें से कुछ तो महाकाव्य साहित्य के लिए अस्वाभाविक और कुछ सामान्य कल्पनाशील साहित्य के लिए अस्वाभाविक या नए होते हैं। इन तत्वों को केवल इसलिए ही नहीं सम्मिलित किया जाता

कि वे सपाट, अलग-थलग और महत्वहीन घटनाओं को गीतमय वातावरण तथा बौद्धिक गरिमा प्रदान करेंगे। यह इसलिए किया जाता है कि केवल इन्हीं तत्वों के भीतर पूर्णता का वह अंतिम आधार, जो पूरी कृति को बांधे रखता है, दिखाई दे सकता है : यह नियामक विचारों की वह प्रणाली है जो अपने भीतर समग्रता को समाविष्ट किए होती है। कारण यह है कि बाह्य संसार की विसंगतिपूर्ण प्रकृति का वास्तविक आधार यह तथ्य होता है कि वास्तविकता के संदर्भ में विचारों की कोई भी प्रणाली केवल नियामक शक्ति लिए होती है। विचार चूंकि वास्तविकता को भेद नहीं सकते इसलिए वास्तविक विषम तथा विसंगतिपूर्ण हो जाती है तथा यह असमर्थता इस बात को और भी ज़रूरी बना देती है कि वास्तविकता विचारों की प्रणाली के साथ एक निश्चित संबंध स्थापित करे – जिसकी दांते के संसार में कोई आवश्यकता नहीं थी। दांते के संसार में यह होता था कि संसार के निर्माण-संयोजन में प्रत्येक घटना को उसका अपना स्थान मिलता था और सभी घटनाओं को उचित जीवंतता तथा अर्थवत्ता प्रदान की जाती थी, बिल्कुल उसी सीधे-सरल रूप में – जीवन और अर्थवत्ता प्रत्येक घटना के भीतर पूरी अंतर्व्याप्ति सहित विद्यमान होते थे।

उपन्यास के आंतरिक रूप की व्याख्या यह की गई है कि वह व्यक्ति द्वारा अपने निज की ओर की गई यात्रा की प्रक्रिया है, इस यात्रा का मार्ग एक सामान्यतः उपस्थित वास्तविकता के नीरस बंधन से प्रारंभ होकर – वास्तविकता भी ऐसी कि अपने आप में विसंगतिपूर्ण और व्यक्ति के लिए निरर्थक हो – स्पष्ट आत्मबोध की ओर जाता है। इस तरह के आत्मबोध को प्राप्त करने के बाद जो आदर्श पैदा होता है वह अपने व्याप्त अर्थ से व्यक्ति के जीवन को प्रकाशित करता है, लेकिन उस क्षेत्र में उपन्यास के जीवन क्षेत्र में, जहाँ ये घटनाएँ घटती हैं, 'है' तथा 'होना चाहिए' के बीच का संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता, उसे समाप्त किया भी नहीं जा सकता, वहाँ केवल एक अधिकतम समझौता ही – व्यक्ति का अपने जीवन-अर्थ द्वारा गहन एवं तीव्र रूप में प्रकाशित होना – प्राप्त हो सकता है। उपन्यास के रूप द्वारा अपेक्षित अर्थव्याप्ति इस बात में निहित होती है कि नायक अनुभव द्वारा

यह समझ लें कि जीवन के पास अर्थ की झलक से अधिक कुछ भी देने के लिए नहीं है, और कि यह झलक इतनी महत्पूर्ण है कि समूचा जीवन इसके लिए प्रतिबद्ध हो सकता है, यह झलक ही एकमात्र वह वस्तु है जिसके लिए किया गया संघर्ष सही माना जाएगा। इस खोज की प्रक्रिया पूरे जीवन भर चलती है, और इसकी दिशा और विस्तार सीमा इसकी स्वाभाविक वस्तु में निहित होती है, उस मार्ग में जो मनुष्य के आत्मबोध की ओर जाता है। इस प्रक्रिया के आंतरिक आकृति और उसे बनाने वाला सर्वोत्तम साधन – आत्मकथा रूप – उस भिन्नता को सामने लाते हैं, जो उपन्यास के पदार्थ की विसंगतिपूर्ण एवं असीमित प्रकृति और महाकाव्य के पदार्थ की निर्बाध अनंतता के बीच विद्यमान होती है। उपन्यास में सीमाओं का न होना उसे एक 'बुरी' अनंतता प्रदान करता है : इसलिए उपन्यास को कुछ ऐसी आरोपित सीमाओं की आवश्यकता पड़ती है जो रूप प्राप्त करने में उसके सहायक हो सकें, जबकि शुद्ध महाकाव्य वस्तु की अनंतता उसकी अपनी ओर आंवयविक होती है, वह स्वयं ही मूल्य का वाहक होती है, वह स्वयं मूल्य पर बल देती है, वह अपने लिए और अपने भीतर से स्वयं ही अपनी सीमाएँ निश्चित करती हैं, और अपने विस्तार की बाहरी अनंतता उसके लिए प्रायः कोई अर्थ नहीं रखती – वह या तो एक परिणाम, एक घटना, होती है और/या अधिक से अधिक एक लक्षण।

'बुरी' अनंतता की समस्या का हल करने के लिए उपन्यास आत्मकथा रूप का सहारा लेता है। इसके एक ओर तो नायक के संभव अनुभवों की सीमा द्वारा संसार का विस्तार सीमित हेता है तथा आत्मबोध में जीवन के अर्थ को पाने की कोशिश में विकसित होती हुई नायक की दृष्टि संसार की सामान्य चीज़ों को व्यवस्थित करती है, दूसरी ओर अलग-अलग पड़े मनुष्यों, इंद्रियबोध से रहित संरचनाओं और निरर्थक घटनाओं का विसंगतिपूर्ण एवं विषम समूह एक सुसंगत अभिव्यक्ति पाता है – यह क्रिया केंद्रीय पात्र और उसके जीवन की कहानी में प्रतिबिंबित समस्या के साथ संसार के प्रत्येक पृथक तत्व के आरंभ के जुड़ने से संपन्न होती है।

उपन्यास के संसार के आरंभ और अंत जो उपन्यास की वस्तु द्वारा दी गई प्रक्रिया के आरंभ और अंत द्वारा निश्चित होते हैं, इस प्रकार स्पष्टतया अंकित और सुपरिचित मार्ग के महत्वपूर्ण मील पत्थर बन जाते हैं। उपन्यास न तो अपने में और न अपने लिए ही जीवन के स्वाभाविक आरंभ में अंत – जन्म और मृत्यु से – से जुड़ा होता है, फिर भी उन बिंदुओं द्वारा जहाँ यह प्रारंभ और समाप्त होता है, यह संकेत करता है कि जीवन का वह सारवान खंड कौन-सा है जो केंद्रीय समस्या द्वारा नियमित होता है, और वह उस खंड से पहले या बाद की प्रत्येक वस्तु को केवल एक परिप्रेक्ष्य में छूता है और वहीं तक छूता है जहाँ तक वे वस्तुएँ केंद्रीय समस्या से जुड़ी होती हैं, वह अपनी पूरी महाकाव्यात्मक समग्रता को जीवन के उसी दायरे में उद्घाटित करता है जो उसके लिए सारवान होता है।

जब इस जीवन-खंड के प्रारंभ और अंत वही नहीं होते जो मानव जीवन के होते हैं, तो इससे यही पता चलता है कि आत्मकथा रूप की प्रकृति का झुकाव विचारों की ओर है : अभी भी मनुष्य का विकास ही वह सूत्र बना हुआ है जिसके सहारे उपन्यास का पूरा संसार टंगा है और अपने को उद्घाटित करता चल रहा है, लेकिन अब इस विकास को अर्थवत्ता केवल इसलिए मिलती है कि यह उन विचारों और अनुभूत आदर्शों की प्रणाली का प्रतिनिधि है जो नियामक रूप में उपन्यास के बाहरी और भीतरी संसार को निश्चित करती है।

साहित्य में 'विल्हेल्म मीस्टर' का अस्तित्व उसी बिंदु से शुरू होता है जहाँ अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के सामने उसका संकट इतना तीव्र हो जाता है कि वह अपनी सारवस्तु के अनुरूप व्यवसाय ढूँढने में सफल हो जाता है, लेकिन उसके मूल में स्थित आत्मकथा संरचना वही है जो पोंटोपिडन के उपन्यास 'हंस इम ग्लुक' में देखने को मिलती है – पोंटोपिडन का उपन्यास नायक के प्रथम महत्वपूर्ण बाल्यकालीन अनुभव से प्रारंभ होता है और उसकी मृत्यु के साथ समाप्त होता है। इसके विपरीत, माहाकाव्य में केंद्रीय चरित्र तथा उसके महत्वपूर्ण कार्य अपने आप में तथा अपने लिए व्यवस्थित एक जीवन-व्यापार होते हैं, जिससे वहाँ प्रारंभ और अंत

का अर्थ नितांत भिन्न हो जाता है : वे अतिशय तीव्रता के क्षण होते हैं जो दूसरे बिंदुओं से – पूर्णता के उच्च बिंदुओं से – तालमेल बनाए होते हैं, वे महत्वपूर्ण तनावों के प्रारंभ या उनके समाधान से अधिक कुछ प्रस्तुत नहीं करते।

एक बार फिर दांते की स्थिति को एक विशेष स्थिति कहना होगा, दांते में संरचना-क्रिया के नियम उपन्यास की ओर मुड़ते अवश्य हैं लेकिन वे फिर लौटकर महाकाव्य में रूपांतरित हो जाते हैं। दांते के साहित्य में उपस्थित प्रारंभ और अंत सारवान जीवन के निर्णायक बिंदुओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, और ऐसी प्रत्येक वस्तु जो अर्थवत्ता की दैवी भेंट प्राप्त करके महत्व अर्जित करती है उन्हीं बिंदुओं के बीच घटित होती है; प्रारंभ से पहले एक समाधानरहित अव्यवस्था उपस्थित थी, अंत के बाद वह समाधान, वह पुनर्जीवन मिलता है जिसे अब कहीं से खतरा नहीं है। लेकिन जो प्रारंभ और अंत के बीच में स्थित है वह आत्मकथा श्रेणियों की प्रक्रिया से बच जाता है: यह आनंदातिरेक का शाश्वत रूप में विद्यमान बनना है : दांते की विशेषता यह है कि इन अनुभव की सर्वाधिक सशक्त एवं गहन अर्थवत्ता द्वारा वह प्रत्येक वस्तु पूरी तरह सारहीन बना दी जाती है जिसे उपन्यास पकड़ता और निर्मित करता।

उपन्यास अपनी समग्रता का सार प्रारंभ और अंत के बीच में रखे होता है, और इसके द्वारा व्यक्ति को उस मनुष्य की अनंत ऊंचाइयों तक उठा देता है जिसे अपने अनुभव द्वारा ही पूरा संसार बनाना है और जिसे उस संसार को संतुलन में अनिवार्यतः बनाए रखना है – ऐसी ऊंचाईयाँ जहाँ तक कोई भी महाकाव्य मनुष्य या फिर दांते के साहित्य का भी मनुष्य, नहीं पहुंच सकता था, क्योंकि महाकाव्य मनुष्य को अर्थवत्ता मिलती थी दैवी कृपा से, अपने शुद्ध व्यक्तिपन से नहीं। लेकिन चूंकि उपन्यास व्यक्ति को इसी रूप में रख सकता है, इसलिए वह व्यक्ति एक मामूली औजार बन जाता है, और कृति में उसकी केंद्रीय स्थिति का अर्थ केवल यही होता है कि वह जीवन के एक विशिष्ट समस्यामूलक को उद्घाटित करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है।

5. आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार

रेने वेलेक और आस्टिन वारेन

उपन्यास-विषयक साहित्य-सिद्धांत और आलोचना काव्य के साहित्य-सिद्धांत और आलोचना से परिमाण और गुणवता दोनों दृष्टियों से घटिया दर्ज़े के हैं। आमतौर पर इसका करण यह बताया जाता है कि कविता बहुत प्राचीन है और इसकी तुलना में उपन्यास अभी कल की चीज़ है। परंतु वह सफाई बहुत संतोषजनक नहीं मालूम होती। एक कला-विधा के रूप में देखें तो उपन्यास वस्तुतः महाकाव्य का आधुनिक रूप है जिसमें नाटक के तत्व भी आकर मिल गए हैं – पहले महाकाव्य और नाटक ही दो सर्वोत्तम कलारूप थे। इसका असली कारण उपन्यास को गंभीर कला न मानकर एक पलायन मानने, इसे मनोरंजन या दिल-बहलाव से जोड़ कर देखने की व्याप्त धारणा है। इसका कारण महान् उपन्यासों के विषय में भी यह प्रचलित भ्रम है कि ये बिक्री का संकीर्ण लक्ष्य रख कर लिखे जाते हैं। अमरीका में शिक्षाशास्त्रियों की फैलाई हुई इस आम धारणा को लावेल और अर्नाल्ड जैसे प्रतिनिधि आलोचकों की उपन्यास के प्रति दृष्टि से भी बढ़ावा मिला है कि गल्प से इतर साहित्य पढ़ना शिक्षाप्रद और उत्तम है और गल्प साहित्य पढ़ना हानिकर है, या अधिक से अधिक आदमी में आत्मासक्ति पैदा करता है।

लेकिन दूसरी तरफ, उपन्यास को गलत ढंग से गंभीर मानकर चलना भी – अर्थात् यह मानना भी खतरनाक है कि उपन्यास एक दस्तावेज या व्यक्तिगत

वृत्त है, एक आत्म-स्वीकृति है – जिसका दावा यथार्थ का भ्रम पैदा करने के लिए उपन्यासों में भी किया जाता है – कि यह एक सच्ची कहानी है, जीवन और इसके उतार-चढ़ाव का इतिहास है। साहित्य के लिए आवश्यक है कि इसका एक ढाँचा और सौंदर्यात्मक प्रभाव हो, पूरे का एक गठन और प्रभाव हो। जीवन से भी इसका इतना संबंध तो होना ही चाहिए कि इसमें चित्रित ज़िंदगी को पहचाना जा सके, पर ये संबंध अनेक तरह के हो सकते हैं। जीवन का बहुत तीखा वर्णन किया जा सकता है, इसकी मखौल उड़ाई जा सकती है और इसे उलट कर भी पेश किया जा सकता है; इसे जिस भी रूप में पेश किया जाए, यह सदा जीवन से एक विशिष्ट प्रयोजन से चुनी गयी चीज़ों से अलग कुछ नहीं होता। यह जानने के लिए कि किसी विशेष कलाकृति का 'जीवन' से क्या संबंध हो सकता है, हमें साहित्य से बिल्कुल अलग होकर उसका ज्ञान प्राप्त करना होगा।

अरस्तु ने काव्य को (अर्थात् महाकाव्य को) इतिहास की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट बताया है। इस सूत्र का शाश्वत महत्व है। सत्य दो प्रकार के होते हैं। एक है तथ्यपरक सत्य, जो एक निश्चित स्थान और काल की सीमा में सत्य होता है और इसे संकीर्ण अर्थ में हम इतिहास का सत्य कह सकते हैं। एक दूसरा होता है दार्शनिक सत्य जो संकल्पनारूप, स्थापनात्मक और सामान्य होता है। इतिहास की ऐसी परिभाषा की जाए तो इतिहास और दर्शन की इस दृष्टि से कल्पनाप्रसूत साहित्य 'गल्प' है, एक झूठ है। साहित्य के विरुद्ध प्लेटो ने जो आरोप लगाया था वह 'गल्प' शब्द में आज भी बना हुआ है, जिसका उत्तर देते हुए फिलिप सिडनी और डॉ. जान्सन ने कहा था कि साहित्य इस अर्थ में सत्य होने का दावा नहीं करता; वर्णना के इस पुराने आरोप का जो सड़ा-गला अंश आज भी इस शब्द में अवशिष्ट रह गया है, उससे आज भी किसी सच्चे उपन्यासकार को झल्लाहट हो सकती है, जो यह अच्छी तरह जानता है कि गल्प सत्य की तुलना में कम विलक्षण और अधिक सच्चा होता है।

विल्सन फालेट ने डिफो के श्रीमती वील और श्रीमती बारग्रेव के विवरण को लेकर बहुत अच्छी बात कही है : इस कहानी की हर बात सच है, पर यह

पूरी की पूरी कहानी सच नहीं है। लेकिन इस बात पर तो गौर कीजिए कि डिफो ने इस पूरी कहानी को भी इतनी सुंदरता से रखा है कि इस पर उँगली उठाना कठिन मालूम होता है। यह कहानी एक तीसरी औरत की जबानी बयान की गयी है जो ठीक उसी प्रकृति की है जिस प्रकृति की अन्य दोनो औरतें हैं, और जो श्रीमती बारग्रेव की आजीवन सहेली रही है!...'

मैरियन मूरे ने कविता के विषय में कहा है कि यह : 'हमारी आँखों के सामने सजीव मेंढकों से भरे हुए काल्पनिक बगीचे पेश करती है, कि हम उन्हें निहार सकें।'

किसी गल्प-कृति की वास्तविकता – अर्थात् इसका यथार्थ का भ्रम, पाठक के मन पर इसका एक सच्चे जीवन का-सा प्रभाव – अनिवार्यतः या मूलतः परिस्थिति की या ब्योरे की या रोज़मर्रा की आम वास्तविकता नहीं हुआ करती। इन सभी मानकों से देखें तो हावेल्स या गाटफ्रीड जैसे लेखक **ईडिपस रेक्स**, **हैम्लेट** और **माबी डिक** जैसी पुस्तकों के लेखकों को लज्जित कर सकते हैं। सादृश्य का प्रत्येक ब्योरा देना यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने का एक साधन है, पर **गुलिबर्स ट्रैवेल्स** की तरह इसका प्रयोग प्रायः पाठकों को किसी ऐसी असंभाव्य या अविश्वसनीय स्थिति का विश्वास कराने के लिए किया जाता है जिसमें परिस्थितिजन्य सत्य की अपेक्षा अधिक गहरा 'वस्तु सत्य' पाया जाता है।

यथार्थवाद या प्रकृतिवाद, चाहे ये उपन्यास में हों या नाटक में, स्वच्छंदतावाद या अतियथार्थवाद की तरह साहित्यिक या साहित्य-दर्शन विषयक आंदोलन, रूढ़ियाँ और शैलियाँ हुआ करते हैं। यहाँ भेद यथार्थ और भ्रम में नहीं हुआ करता, अपितु यथार्थ की विभिन्न संकल्पनाओं में, भ्रम के विविध रूपों में हुआ करता है।

कथा साहित्य का जीवन से क्या संबंध है? क्लासिकी या नव्य-क्लासिकी उत्तर यह हो सकता है कि यह टाइपीय विशेषताओं को, सार्वभौम चीज़ों को चित्रित करता है, जैसे एक कंजूस का एक टाइप (मालेयर, बाल्जाक) बेवफा लड़की का एक टाइप (लीयर, गोरियो)। परंतु इस तरह की टाइपीय

संकल्पनाएँ क्या समाजशास्त्र की परिधि में नहीं आतीं? अथवा, यह कहा जा सकता था कि कला जीवन का उदात्त, तीखा और आदर्श रूप प्रस्तुत करती है। इसमें संदेह नहीं कि कला की एक ऐसी भी शैली पाई जाती है, परंतु वह मात्र एक शैली है, कला का सारतत्व नहीं। हाँ इतना ज़रूर है कि सभी कलाएँ एक सौंदर्यात्मक दूरी खड़ी करके, रूप या वाणी देकर उन चीजों के भावन को सुखद बना देती है जिनका अनुभव करना या यहाँ तक कि जिनका जीवन में साक्षात्कार करना भी पीड़क हो सकता है। यह बात संभवतः कही जा सकती है कि गल्प कृति में 'एक' व्यक्ति-वृत्त (केस हिस्ट्री) होता है – किसी सामान्य प्रतिरूप या रोगनिकाय का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे कुछ उदाहरण पाए जाते हैं – कैथर का 'पाल्स केस' या 'द स्कल्पटर्स फ्यूनरल' जैसी कहानियों में – जिन्हें ऐसा कहा जा सकता है। परंतु उपन्यासकार एक व्यक्ति-वृत्त – चरित्र या घटना – की अपेक्षा एक पूर्ण जगत प्रस्तुत करता है। प्रत्येक महान् उपन्यासकार इस तरह की एक दुनिया प्रस्तुत करता है – यह दुनिया अनुभव जगत् का आच्छादन करती तो मालूम होती है, परंतु अपनी आत्मसंगत बुद्धि-गम्यता में बिलकुल अलग होती है। कभी-कभी यह एक ऐसा संसार होता है जिसे भूमण्डल पर किसी निश्चित क्षेत्र में चिह्नित किया जा सकता है – जैसे ट्रालप की काउण्टियाँ और कैथेड्रल नगर तथा हार्डी का वेसेक्स; परंतु कभी-कभी – जैसा कि पो के साथ देखने में आता है – ऐसा कर पाना संभव नहीं लगता : पो की लोमहर्षक गढ़ियाँ जर्मनी या वर्जीनिया में नही अपितु आत्मा के भीतर है। डिकेन्स का संसार लंदन है, यह पहचान में आ जाता है, काफ्का का संसार पुराना प्राग है : परंतु ये दोनों संसार इस रह 'प्रक्षेपित' हैं, इतने सृजन-कारक और सृष्ट हैं और इसके बाद के अनुभव-जगत में इन्हें डिकन्स के चरित्रों और काफ्का की स्थितियों में इतना पहचाना जाता है कि इनमें से एक को दसूरे से अभिन्न मानकर देखना असंगत मालूम होता है।

डेस्माण्ड मैकार्थी का कहना है कि मेरिडिथ, कानराड, हेनरी जेम्स और हार्डी इन सभी ने 'इतना विराट सतरंगी बुलबुला पैदा किया है कि जिसमें वे न

मनुष्यों का वर्णन करते हैं वे वास्तविक लोगों से मिलते-जुलते तो मालूम होते हैं पर वे इस संसार में ही सजीव हो पाते हैं।"

मैकार्थी का कहना है कि, 'जरा सोचिए तो कि एक चरित्र को एक काल्पनिक संसार से दूसरे काल्पनिक संसार में पहुंचा दिया गया है। यदि पेकस्निफ को **द गोल्डन बाउल** में पहुँचा दिया जाए तो यह खत्म हो जाएगा।:... किसी उपन्यासकार की एक भूल अक्षम्य है और वह है टोन की संगति के निर्वाह में उसकी असफलता।

जब हम उपन्यास की जीवन से तुलना करने का प्रयास करें या किसी उपन्यासकार की कृति को नैतिक या सामाजिक दृष्टि से परखने चलें तो हमें उपन्याकसार के संसार या सृष्टि की – इस प्रतिरूप या संरचना या सजीव पिण्ड की जिसमें कथानक, चरित्र, माहौल, विश्व-दृष्टि और 'टोन' आते हैं – छान-बीन ही करनी चाहिए। जीवन या 'यथार्थ' के अनुरूप होने की परख इस या उस ब्योरे की तथ्यपरक युक्तियुक्तता से वैसे ही नहीं की जा सकती जैसे नैतिक परख इस आधार पर नहीं की जा सकती कि किसी उपन्यास में यह या वह यौन या निन्दात्मक शब्द है या नहीं, जैसे कि बोस्टन सेंसर किया करता है। अधिक स्वस्थ दृष्टि है पूरे गल्प-जगत की हमारे अनुभव और कल्पना के जगत से तुलना जो कि उपन्यासकार के जगत से कम संघटित होता है। जब किसी उपन्यासकार का जगत हमारे अपने जगत की तरह निरूपित या निर्मित नहीं भी रहता, पर उसमें वे सभी तत्व विद्यमान रहते हैं, जिनको हम अपनी सार्वलौकिक परिधि के लिए आवश्यक मानते हैं, या अपनी विस्तार, सीमा में संकीर्ण होते हुए भी उसमें गहन और केंद्रीय तत्वों को चुन कर रखा गया होता है, और जब खंडों का पैमाना या क्रम-विन्यास ऐसा मालूम होता है जो किसी परिपक्व व्यक्ति को रुच सकता हो तो हम उस उपन्यासकार को महान् कहकर संतोष कर लेते हैं।

जब जम 'जगत' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम एक दिक्सूचक शब्द का प्रयोग करते हें। परंतु 'कथा' (नैरेटिव फिक्शन) – या इससे अच्छा रहेगा यदि हम कहें 'कहानी' (स्टोरी) – जैसा शब्द हमारा ध्यान काल की ओर एक कालबद्ध अनुक्रम की ओर भी खींचता है। कहानी शब्द का अंग्रेज़ी पर्याय

'स्टोरी', 'हिस्ट्री' (इतिहास) शब्द से निकला है। सामान्यतः साहित्य को चित्रकला और मूर्तिकला आदि दिक् सापेक्ष कलाओं से अलग करते हुए काल-सापेक्ष कला कहा जा सकता है; परंतु आधुनिक कविता (कथाहीन कविता) अपनी इस नियति से बचने की पूरी चेष्टा करती है और एक चिन्तनापरक विराम एक 'आत्मचिन्तनात्मक' रूप-विन्यास लाने का प्रयत्न करती है, और जैसा कि जोजेफ फ्रैंक ने बड़ी पटुता से सिद्ध किया है; आधुनिक कलात्मक उपन्यास (**यूलिसिज़, नाइटवुड, मिसेज डैलोवे**) को कलात्मक रूप में, अर्थात् आत्म-चिंतन के रूप में गठित करने का प्रयत्न किया गया है। इससे हमारा ध्यान एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना की ओर जा सकता है : पुरानी कथा या कहानी (महाकाव्य या उपन्यास) एक निश्चित समय के भीतर घटित होती थी — महाकाव्य के लिए समय-सीमा परंपरागत रूप से एक साल की रखी जाती थी। अनेक महान् उपन्यासों में लोगों को जन्म लेते, जवान होते और मरते दिखाया गया है; चरित्र विकसित होते हैं और बदलते हैं; यहाँ तक कि एक पूरे समाज को बदलते देखा जा सकता है : (**द फोरसाइट सागा, युद्ध और शांति**) या, एक परिवार की कई पीढ़ियों की प्रगति और ह्रास (बडेनब्रुक्स) दिखाया जा सकता है। परंपरागत रूप से उपन्यास में समय के आयाम के प्रति बहुत सावधानी बरती जाती रही है।

खलनायकों पर आधारित उपन्यास में तो केवल एक ही चीज़ होती है, और वह है कालानुसार घटना-विन्यास : यह हुआ और उसके बाद यह और फिर वह। हर शौर्य-प्रदर्शन जो अपन आपमें एक घटना होता है, और जो एक स्वतंत्र कहानी भी हो सकता है, नायक के व्यक्तित्व से जोड़ दिया जाता है। अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक उपन्यासों के कालानुक्रम के साथ कार्य-कारण का ढाँचा भी जुड़ जाता है। इस तरह के उपन्यास में चरित्र को एक अवधि के भीतर चलते रहने वाले कारणों से क्रम में गिरता-सँभलता दिखाया जाता है। या जिन उपन्यासों में कथानक बहुत सघन बुना गया रहता है, उनमें समय आने पर ऐसा कुछ हो जाता है कि अंत की स्थिति आरंभ से बिल्कुल भिन्न हो जाती है।

कहानी कहने वाले को केवल फील की ही चिंता नहीं रखनी पड़ती, अपितु घटनाओं का भी बहुत अधिक ध्यान रखना होता है। ऐसे पाठक हुआ करते हैं, या हुआ करते थे जो कहानी पढ़ते समय हमेशा इस बात पर नज़र रखे रहते थे कि देखें कहानी का अंत क्या होता है; परंतु जो आदमी उन्नीसवीं शताब्दी के किसी उपन्यास का 'अंतिम अध्याय' पढ़ेगा उसे कहानी में कोई रुचि नहीं रह जाएगी। कहानी जो एक प्रक्रम है, एक लक्ष्य की ओर उन्मुख प्रक्रम है। हमें ऐसा लग सकता है कि एमर्सन जैसे कुछ दार्शनिक और आचारवादी हैं जो मुख्य रूप से उपन्यासों की ओर ध्यान नहीं देंगे, क्योंकि क्रिया – या बाह्य क्रिया – या कालबद्ध क्रिया – उन्हें अस्वाभाविक मालूम होती है। वे इतिहास को वास्तविक नहीं मान सकते : इतिहास में लगभग एक जैसी चीज़ घटनाक्रम से खुलती चली जाती है; और उपन्यास एक काल्पनिक इतिहास है।

आख्यानात्मक कथा के संबंध में यहाँ एक शब्द कह देना चाहिए, जिसे जब हम गल्प पर लागू करते हैं तो वह अभिनीत गल्प, अर्थात् नाटक से बिल्कुल विपरीत प्रतीत होता है। कहानी या केवल (पशु-पक्षियों के माध्यम से कही गयी कहानी) कोई अभिनेता पेश कर सकता है, या इसे एक ही किस्सागो बयान कर सकता है जो महाकाव्य की कथा कहने वाला या उसका कोई उत्तराधिकारी हो सकता है।

महाकवि उत्तम पुरुष का प्रयोग करता है और वह मिल्टन की तरह इसे गीति-मूलक या लेखकीय उत्तम पुरुष का रूप दे सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी का उपन्यासकार हालांकि उत्तम पुरुष में नहीं लिखता, परंतु टिप्पणी करने और सामान्यीकरण करने के उसी अधिकार का प्रयोग करता है जिसका महाकवि किया करते थे। गीति रचनाओं के उत्तम पुरुष से इसकी भिन्नता दिखाने के लिए हम इसे 'निबंधमूलक' कह सकते हैं। लेकिन वर्ण्य का प्रधान लक्षण है इसकी समावेशी प्रकृति। इसमें घटमान का संक्षिप्त विवरण देते हुए वार्तालाप में यत्र-तत्र दृश्य भी प्रस्तुत किए गए होते हैं।

अंग्रेज़ी कथा साहित्य के दो प्रमुख रूप रहे हैं जिन्हें 'रोमांस' और 'नावेल' (उपन्यास) कहा गया है। क्लारा रीव ने सन् 1785 में इन दोनो का भेद

दिखाते हुए लिखा था : "उपन्यास वास्तविक जीवन का और इसके रीति-व्यवहार का और उस गुण का चित्र होता है जिसमें इसकी रचना की जाती है। रोमांस में भड़कीली और काव्यात्मक भाषा में उन चीज़ों का वर्णन किया जाता है जो न तो कभी घटित हुई है और न ही आगे कभी घटित हो सकती हैं।"

उपन्यास यथार्थवादी होता है; रोमांस काव्यात्मक या महाकाव्यात्मक होता है। अब आगे हम इसे 'मिथक' कहेंगे। ऐन रैडक्लिफ, सर वाल्टर स्कॉट, हाथार्न 'रोमांस' के लेखक हैं। फैनी बर्नी, जेन आस्टेन, ऐंथनी ट्रालप, और जार्ज गिसिंग उपन्यासकार हैं। ये दोनों रूप जो एक दूसरे से बिल्कुल अनमेल हैं, गद्य-कथा के दोहरे विकास को प्रकट करते हैं। उपन्यास का विकास गैर-काल्पनिक कथारूपों–पत्र, डायरी, संस्मरण या जीवनचरित, वार्ता या इतिहास – से हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसका विकास दस्तावेज़ों से हुआ है। शैली की दृष्टि से इसमे यथार्थ की एक-एक बारीकी पर बल दिया जाता है। कुछ संकीर्ण अर्थ में कहें तो इसमें 'अनुकरण' पर बल दिया जाता है। दूसरी ओर रोमांस में महाकाव्यों की या मध्यकालीन रोमांसों की परंपरा जीवित है। इसमें हर दृष्टि से यथार्थ का सादृश्य उपस्थित करने (जैसे अलग-अलग आदमियों की बातचीत को कथोपकथन में प्रस्तुत करने) की उपेक्षा की जा सकती है, इसमें किसी उच्चतर वास्तविकता या गहनतर मनोविज्ञान को विषय बनाया जा सकता है। हाथार्न ने लिखा है कि "जब कोई लेखक अपनी कृति को रोमांस की संज्ञा दे रहा हो तो यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि वह इसकी वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से छूट पाने का दावा कर रहा है।" ... 'यदि इस तरह के रोमांस का आधार अतीत काल को बनाया गया है तो ऐसा इसलिए नहीं किया गया है कि इसमें अतीत की जैसी की तैसी तस्वीर उतारी जाएगी, बल्कि जैसा कि हाथार्न ने ही एक अन्य स्थान पर कहा है इसका लक्ष्य होता है, 'एक तरह का काव्यात्मक ... माहौल तैयार करना जहाँ वास्तविकताओं पर ... बहुत अधिक बल नही दिया जाएगा। ....'

उपन्यास का विश्लेषण करते हुए जो आलोचना लिखी गयी है, उसमें इसके तीन नियामक तत्व आम तौर पर गिनाए गए हैं और ये हैं कथानक, चरित्रचित्रण और परिवेश। इनमें से तीसरा तत्व इतना प्रतीकात्मक है कि इसे कुछ आधुनिक सिद्धांतों में 'वातावरण' या 'टोन' की संज्ञा दी गई है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि ये तीनों तत्व एक दूसरे का निर्धारण करते हैं। हेनरी जेम्स ने अपने लेख 'द आर्ट ऑफ फिक्शन' में ठीक ही प्रश्न किया है, "चरित्र घटनाओं के निर्धारण से अलग है ही क्या? और घटनाएँ चरित्र के निदर्शन से इतर क्या हैं?"

किसी नाटक, कहानी, या उपन्यास के आख्यानात्मक ढाँचे को कथानक या प्लाट कहा जाता रहा है; और संभवतः इस शब्द को इसी अर्थ में बनाए रखा जाना चाहिए। लेकिन साथ ही यह भी है कि इसे इतने व्यापक अर्थ में लिया जाना चाहिए कि इसमें हार्डी, बिल्की कालिन्स और पो के साथ ही साथ चेकाफ, फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स को भी समेटा जा सके : इसे गाडविन के *कैलेब विलियम्स* की तरह एक दूसरे से नथी-जुड़ी घटनाओं के ढाँचे तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए। हम तो कथानकों का भेद करते हुए शिथिल और जटिल कथानकों की, 'रोमांटिक' और 'यथार्थवादी' कथानकों की बात करेंगे। किसी साहित्यिक संक्रमण के काल में कोई उपन्यासकार ये दोनों तरह की रचनाएँ लिखने की बाध्यता महसूस कर सकता है, इनमें से एक प्रकार का लेखन किसी समाप्त प्राय प्रकार में से जन्म ले सकता है। हाथार्न के **द स्कार्लेट लेटर** के बाद के उपन्यासों में बहुत भद्दे और पुराने ढंग के रहस्यपूर्ण कथानक चुने गए हैं, जब कि इनके वास्तविक कथानक अधिक शिथिल और यथार्थवादी ढंग के हैं। डिकन्स ने अपने बाद के उपन्यासों के रहस्यपूर्ण कथानकों में बहुत विचक्षणता का परिचय दिया है, जो उपन्यास की *रुचि के मूल केंद्र से मेल नहीं भी खा सकता।* ***हकलबरी फिन*** *का* अंतिम तीसरा अंश शेष से स्पष्ट रूप से घटिया है और लगता है इस अंश को लिखते समय लेखक के मन में यह भाव काम कर रहा था कि लेखक का एक उत्तरदायित्व 'कथानक' का संयोजन भी है। इस बिंदु तक आने पर असल कथानक काफी आगे बढ़ आया था : यह वास्तव में एक मिथक कथानक है जिसमें रूढ़िवादी समाज से अलग-अलग कारणों से भागे हुए चार

व्यक्तियों का एक बहुत बड़ी नदी में एक बेड़े पर मिलना दिखाया गया है जहाँ से वे आगे की यात्रा एक साथ करते हैं। सबसे प्राचीन और सार्वभौम कथानकों में से एक है जल या स्थल से यात्रा – **हक फिन, माबी डिक, पिलग्रिम्स प्राग्रेस**, **डान क्विसट, पिकविक पेपर्स, द ग्रेप्स आफ राथ**। कथानकों की बात करते समय हम आदतन सभी कथानकों में संघर्ष (कृति से जूझता हुआ मनुष्य, या दूसरे मनुष्यों से जूझते हुए मनुष्य, या अपने आप से जूझे हुए मनुष्य) की भी बात करते हैं, लेकिन इस शब्द के साथ भी कथानक की ही तरह बहुत अधिक छूट लेनी होगी। संघर्ष कुछ 'नाटकीय' शब्द है, इससे दोनो पक्षों में *लगभग समान* शक्तियों के बीच द्वंद्व की, क्रिया और प्रतिक्रिया की झलक मिलती है। लेकिन इसके बावजूद ऐसे कुछ कथानक पाए जाते हैं जिनमें एक ही धारा या दिशा पायी जाती है जैसे अनुधावन या पीछा करने के कथानक जिसके उदाहरण हैं **कैलेब विलियम्स, द स्कार्लेट लैटर, क्राइम एण्ड पनिशमेंट** और काफ़्का का **ट्रायल**।

कथानक (या अख्यानात्मक ढाँचा) स्वयं भी छोटे-छोटे आख्यानात्मक ढाँचों (पताका, प्रकरी) से निर्मित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो बड़े और अधिक समन्वयकारी साहित्यिक ढाँचों (त्रासदी, महाकाव्य, उपन्यास) का विकास हास्य-व्यंग्य, कहावत, दन्तकथा, पत्र आदि अधिक आदिम रूपों से हुआ है; और नाटक या उपन्यास का ढाँचा अनेक ढाँचों का मिला-जुला रूप होता है। रूसी रूपवादी और डाइबेलियस जैसे विधा-विश्लेषण कथानक के आद्य तत्वों को 'मोटिव '(फ्रेंच मोतीफ, जर्मन मोटीव) की संज्ञा देते हैं। साहित्य के इतिहासकार इस अर्थ में जो मोटिव शब्द का प्रयोग करते हैं वह फिनलैंड के लोककथा के विशेषज्ञों का दिया हुआ है, जिन्होंने परीकथाओं और लोककथाओं के अंगों का विश्लेषण किया है। साहित्य में इसके जो स्पष्ट उदाहरण पाए जाते हैं वे हैं गलत पहचान (*कामेडी आफ एरर्स*); किसी बूढ़े का किसी किशोरी से विवाह (**'जैनुअरी एण्ड मे '**); पिता के प्रति *अकृतज्ञता* (**लीअर पीयरे गैरियो**); बच्चे द्वारा अपने पिता की तलाश (**यूलिसिज़ और द आडेसी**)।

हम जिसे उपन्यास का संपुंजन (कम्पोजीशन) कहते हैं, उसे ही जर्मन और रूसी 'अभिप्रेरण' (मोटिवेशन) की संज्ञा देते हैं। यह शब्द बहुत सुंदर है और इसे अंग्रेज़ी में भी ग्रहण कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि यह संरचनागत या आख्यानात्मक रचना का तो संकेत देता ही है, साथ ही यह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, या दार्शनिक सिद्धांत की आंतरिक संरचना का भी कुछ संकेत करता है – इस बात का संकेत कि लोग जैसा आचरण करते हैं वैसा ही क्यों करते हैं – और अंततः कारणता का एक सिद्धांत भी प्रदान करता है। सर वाल्टर स्कॉट ने बहुत पहले ही यह दावा किया था कि "किसी वास्तविक वृत्तांत और गल्प-वृत्तांत में एक स्पष्ट भेद यह है कि पहले में जिस घटना का वर्णन किया जाता है, वह अपने सुदूर कारणों को देखते हुए अस्पष्ट हुआ करती है ... जब कि दूसरे में लेखक का यह कर्तव्य होता है ... कि वह हर चीज़ का ब्यौरा दे।"

संपुजन या अभिप्रेरण (अपने व्यापकतम अर्थ में) में कथाविधि : 'विस्तार' (स्केल), 'गति' (पेस); शिल्प : दृश्यों या घटनाओं को चित्र या सीधे कथात्मक वर्णन के अनुपात में रखना और इन दोनों को कथासार के अनुपात में रखना।

मोटिफों और शिल्प की अपनी कालानुरूप प्रकृति होती है। गाथिक रोमांस की अपनी कथारूढ़ियाँ (मोटीफ) और शिल्प युक्तियाँ थीं; यथार्थवादी उपन्यास की अपनी डाइबेलिथ स्थान-स्थान पर यह उल्लेख करते हैं कि डिकन्स के उपन्यासों में पाया जाने वाला यथार्थवाद प्रकृतिवादी उपन्यासों में पाए जाने वाले यथार्थ से भिन्न है। उनमें जिन शिल्प-युक्तियों का उपयोग किया गया है वे पुराने ढंग की अतिनाटकीय कथानक रूढ़ियों की याद दिलाती है : जिस आदमी को मृत समझ लिया गया था वह एकाएक जी उठता है, या कोई बच्चा अनाथ का जीवन बिताता है और अंत में उसके असल माता-पिता का पता चल जाता है, या कोई रहस्यमय परोपकारी व्यक्ति अंततोगत्वा सजायाफ्ता अपराधी सिद्ध होता है।

किसी साहित्यिक कला-कृति में 'अभिप्रेरण' से 'यथार्थ का भ्रम', अर्थात उसका 'सौंदर्यात्मक प्रयोजन' अवश्य बढ़ना चाहिए। यथार्थवादी अभिप्रेरण

एक कलात्मक युक्ति है। कला में प्रतीयमान वस्तु-सत्य से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

रूसी रूपवादियों ने 'फेबल' का, काल तथा कारण के अनुक्रम का, जो किसी भी तरह बयान किया जाए पर है 'कहानी' या कथात्मक अंश ही, और 'सुजेत' का जिसे हम 'आख्यानात्मक ढाँचा' कह सकते हैं, विभेद किया है। 'फेबल' समस्त कथानक-रूढ़ियों का कुल योग है, जब कि 'सुजेत' कथानक-रूढ़ियों का कलात्मक रीति से प्रस्तुतीकरण, (जो बहुधा बिल्कुल भिन्न होता है)। इसके जो उदाहरण देखने में आते हैं वे हैं काल-विषयक विस्थापन जैसे आरंभ का मध्य में आना, जैसा कि **आडेसी** या **बार्नबाई रुज** में मिलता है; कथा का आगे और पीछे दोनों ओर प्रवाह, जैसा कि फाकनर के **ऐबसेलम ऐबसेलम** में पाया जाता है। फाकनर के **ऐज आई लाई डाइंग** में कथा का 'सुजेत' इस तरह रखा गया है कि इसमें कहानी अपनी माता की लाश को दूरस्थ कब्रिस्तान की ओर ले जाते हुए एक परिवार के सदस्य बारी-बारी से सुनाते हैं। 'सुजेत' किसी विशेष दृष्टिबिंदु से 'आख्यान के संगम स्थल में से प्रस्तुत कथानक' है। यों कह सकते हैं कि 'फेबल' गल्प की 'मूल सामग्री' (लेखक का अनुभव, अध्ययन आदि) का निचोड़ है, (सुजेत फेबल का निचोड़ है); या इससे अच्छा यह कहना रहेगा कि यह आख्यान करने वाले की दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण या स्पष्ट संगम है।

फेबल के काल (फेबल टाइम) में कहानी की परिधि में आने वाला समस्त काल आता है। परंतु 'आख्यान' का काल 'सुजेत' के अनुसार होता है। यह कहानी पढ़ने या अनुभव करने का समय होता है, जिसका नियंत्रण निसंदेह लेखक करता है जो कुछ ही वाक्यों में वर्षों की दूरी पार कर जाता है पर किसी नृत्य या चायपार्टी पर दो लम्बे अध्याय लिख डालता है।

चरित्र-चित्रण का सबसे सीधा ढंग है नाम देना। प्रत्येक 'नामकरण' एक तरह से 'जीवन डालने', 'प्राण फूँकने' और 'पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करने' जैसा होता है। अठारहवीं शताब्दी की कामदियों में 'प्रतीकात्मक' या 'प्रतीकात्मक' जैसे नाम देखने में आते हैं, जैसे – फील्डिंग के आलवर्दी, और थ्वाकम, विट वुड, मिसेज मालाप्राप, सर बेंजामिन बैकबाइट जिनमें जानसन, बनयान,

स्पेंसर और एब्रीमैन की झलक दिखाई देती है। परंतु इससे भी अधिक कौशलपूर्ण चलन एक तरह का ध्वन्यानुकरण मूलक नाम देने का रहा है, जिसमें डिकन्स और हेनरी जेम्स, बाल्जक और गोगोल जैसे एक-दूसरे से अनमेल लेखक एक-समान सिद्धहस्त रहे हैं इसके उदाहरण हैं पेकस्निफ, पम्बलचूक, रोज़ा डार्टल (डार्ट–भाला; स्टार्टल–चौंकना) मि. और मिस मर्डस्टन (मर्डर–हत्या; स्टोनी हार्ट–वज्र हृदय) जैसे प्रयोग। मेलविल के ऐहब और इसमाइल जैसे चरित्र इस बात के उदाहरण हैं कि साहित्यिक–इस दृष्टांत में बाइबिल की–शब्दों की व्यंजनाओं से थोड़े से ही शब्दों में कितना सफल चरित्र-निरूपण किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण के कई प्रकार हो सकते हैं। स्काट जैसे पुराने खेवे के उपन्यासकार अपने प्रत्येक प्रमुख चरित्र का परिचय एक पैराग्राफ में उनकी शारीरिक बनावट ही हर बारीकी का चित्रण करते हुए और एक दूसरे पैराग्राफ में उनकी नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रकृति का विश्लेषण करते हुए देते हैं। लेकिन पूरे चरित्र की झलक एक साथ देने के इस रूप को एक परिचयात्मक लेबल ही माना जा सकता है। या यह लेबल स्वांग या मूक अभिनय–किसी रीति, भंगिमा, या उक्ति–का रूप ले सकती है। इसे जैसा कि डिकेन्स में देखने में आता है, जब-जब पात्र फिर प्रवेश करता है, बार-बार दुहराया जाता है और इस तरह यह एक प्रतीकात्मक गुण-समुदाय का काम करता है। श्रीमती ग्यूमिज "हमेशा अपने बूढ़े चाचा को याद करती रहती है; यूरिया हीथ का तकिया कलाम है 'अम्बल' और साथ ही वह हमेशा अपने हाथों को एक खास अंदाज में घुमाती रहती है; हाथार्न कभी-कभी किसी ठेठ प्रतीक से ही चरित्र-चित्रण करते हैं जैसे जैनोबिया के लाल फूल या वेस्टर बेल्ट के नकली दाँत। जेम्स की रचना **द गोल्डन बाउल** में एक पात्र दूसरे को प्रतीकात्मक रूप में देखता है।

चरित्र-चित्रण स्थिर और गतिशील या विकासपरक दोनों ही तरह का हो सकता है। इसमें दूसरे तरह का चरित्र-चित्रण **वार एण्ड पीस** जैसे लंबे उपन्यासों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होता है, जबकि नाटक के लिए जिसका कि वर्णन-काल सीमित होता यह उसकी अपेक्षा कम उपयुक्त रहा

है। नाटक में, (जैसे कि इब्सन के नाटकों में) यह बताया जा सकता है कि कोई चरित्र जैसा है वैसा किस कारण बना है; उपन्यास में इस परिवर्तन को घटित होते दिखाया जा सकता है। 'सपाट' चरित्र-चित्रण (जो आम तौर पर स्थिर चरित्र-चित्रण से बहुत अंशों में मिलता-जुलता है) में एक ही चरित्रगत लक्षण को सबसे प्रभावशाली या सामाजिक रूप में व्यक्त लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह कैरिकेचर या बिद्रूप-चित्रण हो सकता है या सारग्राही आदर्शीकरण हो सकता है। क्लासिकल नाटक (जैसे रसीन के नाटक) में इसे प्रधान पात्रों पर घटित किया जा सकता है। सर्वांगीण चरित्र-चित्रण जिसमें 'गतिशील' चरित्र-चित्रण की भाँति स्थान और काल की अपेक्षा होती है, दृष्टिकोण या दिलचस्पी पैदा करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण पात्रों के लिए उपयोग में आ सकता है। अतः इसका सामान्य पृष्ठभूमि में सामान्यतः पृष्ठभूमि में आने वाले पात्रों—पात्र-वृंद—के वर्णन में 'सपाट' चित्रण के साथ मिला कर प्रयोग किया जाता है।

चरित्र-चित्रण (साहित्यिक पद्धति) और चरित्र-चित्रण (चरित्र और व्यक्तित्व के प्रकार-भेद संबंधी सिद्धांत) के बीच स्पष्टतः किसी न किसी तरह का संबंध अवश्य है। पात्रों के कुछ प्रकार-भेद हैं जो अंशतः साहित्यिक परंपरा से और अंशतः लोक-मानव-विज्ञान से निर्धारित होते हैं और उपन्यासकार इनका उपयोग करते हैं। उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी और अमरीकी कथा-साहित्य में हमें काले और भूरे बालों वाले व्यक्ति, स्त्री-पुरुष (हीथ-क्लिफ, राचेस्टर; बेकी शीर्ष; मैगी ट्यूलिवर; जैनोबिया; मिरियम; लीजिया) और सुनहले बालों वाली रमणियाँ (एमीलिया सेडली, लूसी डान; और हाथार्न की हिल्डा, प्रिसिला, और फीबी; तथा पो की लेउ रोवेना) मिलती है। स्वर्णकेशी महिलाएँ घरेलू, अनुत्तेजक, परंतु स्थिरचित्त और मधुर प्रकृति की हैं। काले भूरे बालों वाले, कामुक, उग्र, रहस्यमय, मोहक और अविश्वसनीय पात्र हैं जिनमें ऐंग्लो सैक्सन दृष्टिकोण से पूर्वी, यहूदी, स्पेनी और इटावली विशेषताएँ इकट्ठी चित्रित की गयी हैं।

नाटकों की ही तरह उपन्यासों में भी हमें एक साथ लगे-जुड़े अनेक चरित्र—नायक, नायिका, खलनायक, गौण पात्र (या 'हास्य चरित्र' या

मसखरे) दिखाई देते हैं। इनमें बालक, युवा और वृद्ध (पिता, माँ, क्वाँरी बुआ, बूढ़ी महिला, या धाय) सभी पाए जाते हैं। लैटिन परंपरा की नाट्य कला में (प्लाटिनस और टेरन्स, जानसन और मोलियर) बिल्कुल स्पष्ट और परंपरागत चरित-भेदों – कंजूस पिता, दुष्ट नौकर आदि – का उपयोग करते हैं। परंतु डिकेन्स जैसा कोई महान् उपन्यासकार अठारहवीं शताब्दी के रंगमंच और उपन्यासों के उपयुक्त टाइपों को अपनाता और रूपांतरित करता है। डिकेन्स ने केवल दो नए टाइप प्रस्तुत किए हैं – असहाय बूढ़े और बच्चे, और स्वप्नजीवी या ख्याली दुनिया में रमने वाले लोग।

साहित्यिक पात्र-टाइपों के लिए जो भी अंतिम सामाजिक और मानव-वैज्ञानिक आधार हों परंतु बिना वैज्ञानिक प्रमाणों की सहायता के, उपन्यासों से ही इनके भाव-व्यंजक प्रतिरूप तैयार किए जा सकते हैं और ऐसा करने पर हम आमतौर पर पाएँगे कि इनको एक लम्बी साहित्यिक और ऐतिहासिक परंपरा चली आई है।

परिवेश – वर्णन (जो आख्यान से अलग है) के साहित्यिक तत्व – का ओर ध्यान दें तो इससे पहली दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि इससे ही 'कथा' और नाटक का अलगाव होता है; पर इस पर गहराई से विचार करने पर लगेगा कि इसका संबंध साहित्य में युग-विशेष से है। नाटक हो चाहे उपन्यास, परिवेश की ओर अधिक ब्योरेवार ध्यान सभी कालों और भाषाओं में नहीं दिया गया – यह केवल स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी कालों (अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी) में दिया गया है। नाटक में परिवेश को या तो शाब्दिक रूप में दिखाया जा सकता है (जैसा कि शेक्सपियर में देखने में आता है) या दृश्य तैयार करने वालों और बढ़इयों को मंच-विषयक निर्देश देकर तैयार कराया जा सकता है। शेक्सपियर के नाटकों में कुछ दृश्यों को निश्चित नहीं किया जा सकता, उनकी पूरी रूपरेखा नहीं दी जा सकती। परंतु उपन्यासों के भीतर भी परिवेश का वर्णन बहुत अंशों में बदल सकता है। फील्डिंग और स्मालट की भाँति जेन आस्टेन भी भीतरी या बाहरी दृश्य का शायद ही कहीं वर्णन करती है। जेम्स के आरंभिक उपन्यासो में, जिनकी रचना बाल्ज़क से प्रभावित होकर की गई है, घर का और प्राकृति दृश्यों का एक-एक ब्योरा

दिया गया है; पर बाद के उपन्यासों में इसके बजाय कि दृश्य देखने में कैसे लगते हैं, प्रतीकात्मक रूप में यह चित्रित किया गया है कि अपनी समग्रता में वे अनुभव कैसे होते हैं।

स्वच्छन्दतावादी वर्णन में एक मनःस्थिति तैयार करने और उसे बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें टोन, या प्रभाव कथानक और चरित्र-चित्रण पर हावी रहते हैं – इसके उदाहरणस्वरूप श्रीमती रैडक्लिफ और पो को रखा जा सकता है। प्रकृतिवादी वर्णन ऊपर से देखने पर एक बहुत यथार्थ सा मालूम होता है : यह विस्तृत ब्योरा यथार्थ का भ्रम पैदा करने के लिए दिया जाता है (डिफो, स्विफ्ट, ज़ोला)।

परिवेश ही पर्याबरण है; और पर्यावरण को, विशेषतः घर के भीतर के ब्योरों को चरित्र की आलांकारिक अभिव्यक्ति के रूप में दर्शाया जा सकता है। किसी व्यक्ति का घर उसके अपने अस्तित्व का ही विस्तार होता है। इसका वर्णन करने से उसका वर्णन भी हो सकता है। बाल्ज़क ने कंजूस ग्रान्दे या पेंशन वाकर के घर का जो विस्तृत ब्योरा दिया है वह न तो असंगत है, न ही अनावश्यक। ये घर अपने मालिकों की अभिव्यक्ति करते हैं; दूसरे किसी आदमी को, जिसे उनमें रहना पड़े, ये पर्यावरण के रूप मे प्रभावित करते हैं। छोटे बुर्जुआ वर्ग का पेंशन का त्रास रैस्टिगनेक की ओर एक दूसरे अर्थ में वात्रिन की प्रतिक्रिया से तत्काल पैदा हो जाता है, जब कि गोरियो के अधःपतन के ब्यौरे इसके हर वर्णन के बाद दिए गए वैभव के विवरणों से निरंतर वैषम्य प्रस्तुत करते हैं।

परिवेश से व्यक्ति के संकल्प की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। यदि यह प्राकृतिक परिवेश हुआ तो यह संकल्प का ही प्रक्षेप हो सकता है। आत्म-विश्लेषक ऐमिएल ने कहा है कि 'प्रकृति-चित्र एक मनोदशा हुआ करता है।' मनुष्य और प्रकृति के बीच कुछ स्पष्ट अंतःसंबंध हुआ करते हैं, जिनकी अनुभूति बहुत तीक्ष्णता से स्वच्छंदतावादियों ने की थी यद्यपि ऐसा करने वाले वे ही एकमात्र लोग नहीं थे। एक उग्र, तूफ़ानी स्वभाव का नायक तूफान में बाहर निकल पड़ता है। खुशदिल व्यक्ति को धूप और उजाले से अधिक प्रेम होता है।

इसके अतिरिक्त, परिवेश क्रियाओं और घटनाओं का बहुत बड़ा निर्धारक भी हो सकता है – भौतिक और सामाजिक कारण के रूप में दर्शाया गया पर्यावरण, एक ऐसी चीज़ जिसके ऊपर व्यक्ति का अपना लगभग कुछ भी नियंत्रण नहीं होता। परिवेश हार्डी का एड्गन हीथ या लेविस का जेनिथ हो सकता है। अनेक आधुनिक उपन्यासों में महान् नगर (पेरिस, लंदन, न्यूयार्क) अत्यंत सजीव चरित्रों के रूप में चित्रित किए गए हैं।

कहानी पत्रों और डायरियों के माध्यम से भी बयान की जा सकती है। या, यह चुटकुलों यानी छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन से आकार ग्रहण कर सकती है। अनेक चुटकुलों को मिलाकर तैयार की गयी कहानी, ऐतिहासिक दृष्टि से चुटकुले और उपन्यास के बीच की चीज़ है। **डिकैमरा** में कहानियों को विषय के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। **कैण्टरबरी टेल्स** में इस तरह के विषयों (जैसे विवाह) के वर्गीकरण के साथ-साथ कहाभी के द्वारा कहानी कहने वाले के चरित्र-चित्रण की और कुछ थोड़े से पात्रों को जो आपस में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तनावों से ग्रस्त रहते हैं, चरित्र-चित्रण की उद्‌भावना की गयी है। अनेक कहानियों के गुम्फन से तैयार कहानी, का एक स्वच्छंदतावादी रूप भी होता है : इर्विंग के **टेल्स ऑफ ए ट्रैवेलर** और हाफमैन की कहानी **टेल्स ऑफ सेरैपियन ब्रदरेन** इसके उदाहरण हैं। गाथिक उपन्यास **मैलमाथ द वाण्डरर** अलग-अलग कहानियों को शिथिल ढंग से एक में जोड़ कर गढ़ा गया एक अजीब पर निश्चय ही प्रभाव कारक समूह है – समानता इनमें यही है कि इन सबमें आतंक का स्वर पाया जाता है।

एक दूसरा तरीका जो आज कल प्रयोग में नहीं आता, उपन्यास में ही सम्मिलित कहानी का है (जैसे **टाम जोन्स** एक पहाड़ी आदमी की कहानी; विल्हम माइस्टर में 'एक पुण्यात्मक की अपराध स्वीकृति')। ऐसा करने के दो कारण हैं – एक तो किसी कृति के आकार की वृद्धि के लिए भरती का प्रयास और दूसरा वैविध्य की खोज। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति विक्टोरिया युगीन तिहरे कथानकों वाले उपन्यासों में अधिक अच्छी तरह होती है, जिनमें दो या तीन कथानकों को बारी-बारी से आगे बढ़ाया जाता था और अंत में इन सबको एक में जोड़ दिया जाता था – अनेक कथानकों को एक-दूसरे मे

मिलाने का प्रयोग एलिज़ाबेथ काल में ही किया जाने लगा था और प्रायः इसमें उनको अद्‌भुत सफलता मिली थी। अगर इन कथानकों को कलात्मक ढंग से सँभाला जाए तो एक कथानक दूसरे के सामनांतर चलता है (**लीयर** में) या प्रहसन या पैरोडी का काम करता है, और इस तरह दूसरे कथानक में अंतर्गर्भित रहता है।

उत्तम पुरुष में कहानी कहने की पद्धति को दूसरी पद्धतियों की तुलना में रख कर बहुत सावधानी से परखना होगा। यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि इस तरह कथा कहने वाला व्यक्ति लेखक स्वयं होता है। उत्तम पुरुष में कथा कहने के प्रयोजन और प्रभाव दोनों बहुत अलग-अलग हुआ करते हैं। कभी-कभी इसके प्रभाव स्वरूप कथा कहने वाला पात्र दूसरे पात्रों से कम स्पष्ट और सजीव बन जाता है (डेविड कापरफील्ड)। दूसरी और माल फ्लाण्डर्स और हक फिन अपनी कहानियों के प्रधान पात्र हैं। पो की उत्तम पुरुष में बयान की गयी कहानी 'द हाउस अशर' में पाठक अशर के तटस्थ मित्र से अपना अभेद कर बैठता है और तबाही की अंतिम घड़ी में उसके साथ ही साथ विरत हो जाता है; परंतु इसका उन्मादी या विक्षिप्त प्रधान पात्र अपनी ही कहानी 'लीगिया', 'बेरेनिस' और 'द टेल-टेल हार्ट' में सुनाता है; कहानी बयान करने वाला व्यक्ति, जिसके साथ हमारा तादात्म्य नहीं हो पाता, अपना अपराध स्वीकार कर रहा है, वह जो कुछ हमें बताता है और जिस ढंग से बताता है उसी के माध्यम से उसका चरित्र-चित्रण होता चलता है।

एक रोचक प्रश्न यह है कि कोई कहानी किस रूप में बनी रहना चाहती है। कुछ कहानियों के साथ अच्छी खासी भूमिका दी गयी रहती है। (**कैसल ऑफ आट्रैण्टो, टर्न ऑफ स्क्रू, स्कार्लेट लेटर**) असल कहानी इस तरह प्रस्तुत की जाती है कि इसे 'क' ने 'ख' को सुनाया था, या इसकी पांडुलिपि 'क' ने 'ख' को दी थी जिसने संभवतः 'ग' की जीवन-कथा लिखी थी और इस तरह लेखक या पाठक को इससे बिलकुल असंपृक्त रखा जाता है। उत्तम पुरुष में वर्णित पो की कहानियाँ कभी तो स्पष्टतः नाटकीय एकालाप (**एमांटि-लेडो**) होती हैं, कभी ग्लानि से पीड़ित किसी व्यक्ति द्वारा अपने हृदय

का बोझ हल्का करने के उद्देश्य से कही जाती है ('द टेल-टेल हार्ड')। कभी-कभी इसकी अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती – 'लीगिया' में हम यह समझें कि कहानी कहने वाला व्यक्ति अपने आप से बातचीत कर रहा है या यह कि वह अपने ही त्रास की भावना को उभारने के लिए अपनी कहानी का मानसिक अवलोकन कर रहा है?

कथा वर्णन की पद्धति की सबसे प्रमुख समस्या है कि लेखक का अपनी कृति से क्या संबंध होता है। नाटक का लेखक नाटक में कहीं सामने नहीं आता, वह इसकी आड़ में रहता है; लेकिन महाकाव्य का लेखक अपनी कहानी एक पेशेवर किस्सागो की तरह बीच-बीच में अपनी ओर से भी कुछ जोड़ता हुआ कहता है और कथा को बिल्कुल अपनी शैली में (कथोपकथन से भिन्न) प्रस्तुत करता है।

इसी तरह उपन्यासकार कोई ऐसी कहानी सुना सकता है जिसके विषय में उसे इस बात का रंच मात्र भी दावा न हो कि उसने स्वयं इसे देखा या इसमें भाग लिया है। वह 'सर्वदर्शी लेखक' की तरह इसे प्रथम पुरुष में लिख सकता है। इसमें तो संदेह ही नहीं कि कथा कहने का यही परंपरागत और स्वाभाविक' ढंग है। लेखक अपनी कृति के पास ही उपस्थित रहता है जैसे व्याख्याता बाइस्कोप या डाकुमेंटरी फिल्म के साथ लगा रहता है।

महाकाव्य की मिश्रित वर्णन-शैली से भिन्न दो और वर्णन शैलिया हैं। इनमें से एक हमें, जिसे स्वच्छंदतावादी व्याजोक्ति शैली कहा जा सकता है, कथा कहने वाले का महत्त्व जान-बूझ कर बहुत बढ़ा दिया जाता है, ऐसे हर संभव भ्रम को तोड़ने में कि यह 'वास्तविक घटना' है न कि 'कल्पित', लेखक आनंद लेता है और पुस्तक में लिखे साहित्यिक चरित्र पर बल दिया जाता है। इस धारा के स्थापक स्टर्न हैं, और विशेषतः ट्रिस्ट्रैम शैण्डी में; जर्मनी में इसके बाद इस शैली को अपनाने वाले जीन पाल रिक्टर, टीक और रूस में वेल्टमैन और गोगोल रहे। टिस्ट्रैम को उपन्यास-लेखन विषयक उपन्यास कहा जा सकता है और यही बात ज़ीद के **ले फॉ मेनायो** और **प्वाइंट काउंटर-प्वाइंट** के विषय में भी कही जा सकती है। थैकरी का **वेनिटी फेयर**, जिसकी कथा में बार-बार यह याद दिलाया जाता है कि ये पात्र उसके गढ़े हुए पुतले

हैं – इसी साहित्यिक जाति में आता है जिसमें यह याद दिलाया जाता है कि यह साहित्य साहित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

उपन्यास का दूसरा विपरीत लक्ष्य है 'वस्तुनिष्ठ' या 'नाटकीय' पद्धति, जिसके पक्ष में तर्क देने वाले और जिसे आधार बना कर लेखन करने वाले रहे हैं जर्मनी में ओटो लुडविग, फ्रांस में फ्लाबेयर, मोपासां और इंग्लैंड में हेनरी जेम्स। इस पद्धति के उन्नायक कलाकारों के साथ ही साथ इसके आलोचकों ने भी इसे एक मात्र कलात्मक शैली माना है (इस कट्टरपंथी विचारधारा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है)। इसका बहुत प्रशंसनीय विवेचन पर्सी लबक ने अपनी पुस्तक **क्रैफ्ट ऑफ फिक्शन** में किया है जो हेनरी जेम्स के औपन्यासिक सिद्धांत और व्यवहार पर आधारित उपन्यास का एक काव्यशास्त्र है।

हालाँकि 'वस्तुनिष्ठ' शब्द का प्रयोग करना अधिक अच्छा है, क्योंकि नाटकीय' का अर्थ 'कथोपकथन' या (विचारों और भावनाओं के आंतरिक लोक से अलग) क्रिया या आचरण हो सकता है; परंतु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस आंदोलन की प्रेरणा नाटक और रंगमंच से ही मिली थी। ओटो लुडविग ने अपने सिद्धांत मुख्यतः डिकन्स पर आधारित किए थे जिन्होंने मूक अभिनय और चरित्र-चित्रण के लिए बने बनाए मुहावरे अठाहरवीं शताब्दी की कामदियों और प्रहसनों से लिए थे। डिकन्स कथा कहने के स्थान पर कथा को सदा संवाद और अंगचेष्टा में **प्रस्तुत** करते हैं। वह किसी चीज़ के **विषय** में हमें बताने के स्थान पर उसे दिखाते हैं। उपन्यास के बाद के रूपों में दूसरे और अधिक सूक्ष्म नाटकों से शिक्षा ग्रहण की गयी है जैसे जेम्स ने **इब्सन** के नाटकों से लाभ उठाया था।

वस्तुनिष्ठ पद्धति को केवल संवाद और सूचित व्यवहार तक ही सीमित नहीं मान लेना चाहिए। जेम्स का उपन्यास '**द आकवर्ड एज**' और हेमिंग्वे की कहानी 'द किलर्स' इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। इस तरह की सीमा खड़ी करने से उपन्यास और नाटक में सीधी प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाएगी। इसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि इसमें मनोजगत का भी चित्रण किया जा सकता है जिसे यदि नाटक में दिखाया भी जा सकता है तो बिल्कुल

भोंडे ढंग से ही। इसके आवश्यक तत्व हैं 'सर्वदर्शी उपन्यासकार' का स्वेच्छा से उपन्यास की ओट में रहना, और इसके स्थान पर एक 'नियंत्रित दृष्टिकोण' की उपस्थिति। जेम्स और लबक के मतानुसार उपन्यास 'चित्र' और 'नाटक' प्रस्तुत करता है, जिससे उसका तात्पर्य यह है कि पात्र को इस बात की चेतना है कि (भीतर और बाहर) क्या व्यापार चल रहा है और इस दृष्टि से यह 'दृश्य' से भिन्न वस्तु है – यह कम से कम आंशिक रूप से संवाद रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इसमें कुछ विस्तार के साथ कोई महत्वपूर्ण कथा या घटना दिखाई जाती है। 'चित्र' उतना ही वस्तुपरक होता है जितना 'नाटक', फर्क केवल इतना होता है कि यह किसी कुछ विनिर्दिष्ट आत्मनिष्ठ घटनाओं का, अर्थात् किसी एक पात्र की मानसिक घटनाओं का वस्तुपरक वर्णन होता है (जैसे मदाम बावेरी, या स्ट्रैथर), जबकि नाटक में भाषण और आचरण को वस्तुपरक ढंग से पेश किया जाता है। इस सिद्धांत में यह गुंजाइश है कि 'दृष्टिकोण' को किसी एक व्यक्ति से दूसरे पर स्थानांतरित किया जा सके (जैसे **द गोल्डन बाउल** के उत्तरार्ध में इसे राजा से रानी के ऊपर मोड़ दिया गया है) शर्त यह है कि यह व्यवस्थित रूप में हो। इसमें लेखक उपन्यास में किसी ऐसे पात्र को भी रख सकता है जो लेखक से मिलता-जुलता हो, यह पात्र चाहे अपने किसी मित्र को कहानी सुनाने वाले के रूप में रखा जा सकता है (कानराइड के युर्थ में मार्लो) या एक ऐसी चेतना के रूप में जिसके माध्यम से हर चीज़ को देखा जा सकता है (दि ऐम्बेसडर्स का स्ट्रैथर) यहाँ बल उपन्यास की आत्मसंगत वस्तुनिष्ठता पर दिया जाता है। यदि लेखक को 'समाचार' की स्थिति से अलग भी उपन्यास में उपस्थित रहना हुआ तो उसे अपने को या अपने प्रतिनिधि को उसी आकार और औकात पर लाना होगा जो दूसरे पात्रों की है।

वस्तुनिष्ठ पद्धति का अभिन्न अंग है। काल-विषयक प्रस्तुतीकरण जिसमें पाठक पात्रों की प्रक्रिया से होकर गुजरते हैं। इसमें कुछ अंशों तक 'चित्र' और 'नाटक' के साथ 'संक्षिप्त सार' भी आते हैं, जैसे नाटक में 'अंक एक और दो के बीच पाँच दिन का व्यवधान है') परंतु इसका उपयोग बहुत कम होना चाहिए। विक्टोरिया युगीन नाटकों का अंत करते हुए प्रधान पात्रों के बाद के जीवन, विवाह और मृत्यु आदि का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता था;

जेम्स, होवेल्स और इनके समसामयिक दूसरे लेखकों ने इसे खत्म कर दिया क्योंकि उनकी दृष्टि से यह एक भारी कलात्मक गलती है। वस्तुनिष्ठ शैली के अनुसार लेखक को पहले से यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि आगे क्या होने वाला है; उसे कवेल अपना चार्ट धीरे-धीरे खोलते जाना चाहिए और ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारी नज़र में एक से अधिक पंक्तियाँ एक समय में न आवें। रैमन फर्नीण्डीज़ ने **रेसिट** अर्थात् कथा वर्णन और रोमन अर्थात् उपन्यास में भेद करते हुए लिखा है कि पहले में जो कुछ घटित हो चुका है उसका इस समय उद्घाटन और वर्णन के नियमों के अनुसार ब्योरा दिया जा रहा है जबकि दूसरे में घटनाओं को सजीव वस्तुओं के क्रम में, समय में, घटित होते दिखाया जाता है।

वस्तुनिष्ठ उपन्यास की एक तकनीकी विशेषता है 'चेतना प्रवाह शैली' जिसे अंग्रेज़ी में स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस' कहा जाता है। अंग्रेज़ी में इस शब्द का प्रयोग पहली बार विलियम जेम्स ने किया था। इसकी परिभाषा करते हुए ड्यूजार्डिन ने लिखा है कि यह एक ऐसी शैली है जिसमें "पाठक लेखक की ओर से स्पष्टीकरण या टिप्पणी के रूप में किसी तरह की बाधा के बिना ही पात्रों के आंतरिक जीवन में प्रवेश कर जाता है ...' और इसमें "नितांत निजी विचारों की, अवचेतन के सर्वाधिक निकट पड़ने वाले विचारों की अभिव्यक्ति होती है। ....' लबक का कहना है कि **दि ऐम्बेसडर्स** में जेम्स 'स्ट्रेथर के मन की कहानी सुनाते नहीं; वह यह कहानी उसी से कहलाते हैं, वह इसे नाटकीय रूप दे देते हैं। "इन शैलियों का इतिहास और आधुनिक साहित्य में इनकी छाया का अध्ययन करना अभी हाल ही में शुरू हुआ है —: इसके प्राचीन उदाहरणों मैं से एक है शैक्सपियर के नाटकों में आए आत्मालाप; इसका दूसरा उदाहरण है स्टर्न जिन्होंने लाक के विचारों के मुक्त साहचर्य का प्रयोग किया है; 'आंतरिक विश्लेषण' अर्थात् लेखक द्वारा पात्र के विचारों और भावनाओं का संक्षिप्त विवरण इसका तीसरा प्राचीन उदाहरण है।

गल्प 'संसार' (कथानक, पात्र, परिवेश) के हमारी इस तीसरी परत के संबंध में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनके दृष्टांत मुख्यतः उपन्यासों से लिए गए हैं परंतु एक साहित्यिक कृति के रूप में विचार करते समय इन्हें नाटकों पर

भी लागू माना जाना चाहिए। चौथी पर्त, अर्थात् 'अति भौतिक विशेषताओं' की पर्त के विषय में हम देख चुके हैं कि यह गल्प 'संसार' से बहुत निकट संबंध रखता है, और यह 'जीवन के प्रति दृष्टिकोण' अथवा इस संसार से ध्वनित होने वाले स्वर का समकक्षी; लेकिन इन विशेषताओं पर मूल्यांकन का विवेचन करते समय हम अधिक सूक्ष्मता से विचार करेंगे।

6. आज का समय, उपन्यास और पाठक

सुरेन गेसुर्यां

[1963 के अगस्त के प्रांरभ में लेनिनग्राद में यूरोपीय लेखकों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था। नेवा नदी के किनारे स्थित लेनिनग्राद नामक आधुनिक नगर के लेखक क्लब में यह सम्मेलन कई दिनों तक चला था। यूरोप की सभी भाषाओं के कथाकार और आलोचक इस सम्मेलन में भाग लेने आए थे किंतु स्पेन और पुर्तगाल की सरकारों के नियंत्रण के ***कारण*** उन दोनों देशों के साहित्यकार नहीं आए थे।

यह सम्मेलन 'उपन्यास' की विधा पर विचार करने के लिए बुलाया गया था। समसामयिक उपन्यास की विभिन्न प्रवृत्तियों और विधा के रूप में उपन्यास के भविष्य पर विचार-विमर्श बड़ी गंभीरता से हुआ था।

उस सम्मेलन में व्यक्त किए गए, परिसंवाद के हिस्से के तौर पर, विचारों का यह सार-संक्षेप सोवियत समीक्षक सुरेन गेसुर्यां ने नवंबर 1963 के 'सोवियत साहित्य' में प्रस्तुत किया था, जिसका हिंदी रूपांतर यहाँ प्रस्तुत है। सं.]

उपन्यास पर आज क्या खतरे हैं? कहाँ हैं? क्यो हैं? ये प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठेंगे ही।

सोवियत साहित्य के प्रतिनिधि–पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकार कोंस्तानिन फेदिन, मिखाइल शोलोखोव और लियोनिद लियोनाव तथा नई पीढ़ी के उपन्यासकार–ईनिला ग्रेनिन और शिली अकिस्योनोव–सबने उपन्यास के मृत

हो जाने की घोषणा नहीं की, बल्कि इसके पल्लवन, इसके विकास की आश्चर्यजनक संभावनाओं के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए। ऐसे ही विचार अन्य समाजवादी देशों के लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए।

यह अत्यंत उल्लेखनीय है कि पूंजीवादी देशों के प्रायः सभी लेखक उपन्यास के भविष्य के संबंध में संदिग्ध है। इस प्राचीन, कालातीत विधा के संबंध में आजा शंकालु है। इस प्रसंग में हर कोई तीन या चार प्रवृत्तियाँ सहज ही देख सकता है :

अक्सर जिसे 'उपन्यास का संकट' कहा जाता है, वह वस्तुतः आज के पूंजीवादी संसार में कला और कलाकार के व्यक्तित्व का सामान्य संकट है। और यह संकट भी अत्यंत स्पष्ट अंतर्विरोधों, अपनी स्पष्ट निराशाओं, आणविक विनाश की आशंकाओं, मनुष्य के भीतर की सहज मानवीय भावनाओं पर कुंठाजनक दबावों और उसकी पाशविक जन्मजात वृत्तियों के उच्छृंखल विस्फोट की आशंकाओं से गहरा होता जा रहा है। ये स्थितियाँ संभवतः इस महाकाव्यात्मक विधा पर घातक प्रहार करने में समर्थ हैं–ऐसी साहित्यिक विधा पर जो सामाजिक कथ्य से जीवंत है और जो चरित्र तथा घटनाओं पर समान रूप से ध्यान देती है। मैं अनुभव करता हूँ कि यह दृष्टिकोण सत्य के निकट है। इसकी दुर्बलता केवल इस तथ्य में निहित है कि यह अपनी जटिलताओं पर विजय पाने की संभावना नहीं देखता और न वर्तमान सौंदर्यपरक गतिविधियों के तंग रास्ते से निकलने के मार्ग ढूँढ़ता है। परंतु इसका मार्ग है अवश्य और आज विश्व के तमाम लेखक इस तथ्य से परिचित हैं।

अन्य लोग 'उपन्यास के संकट' का गलत अर्थ निकालने की भूल करते हैं। वे समझते हैं कि यह संकट वस्तुतः उपन्यास की विधा के प्राकृतिक विकास की एक प्रवृत्ति है, ऐसा विकास जो जीवन से निर्दिष्ट और काल की गति से परिचालित है। उंबरेत्ती (इटली) ऐसे ही लोगों में से एक हैं जिन्होंने कहा कि हमारा संसार सतत परिवर्तन की अवस्था में है और परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा है। कल तक जो दृश्यातीत था, उसे भी सोवियत अंतरिक्ष यात्रियों ने देखा। हर दिन सड़कों, नगरों, यातायात के साधनों और अंतरिक्ष के संबंध में

हमारे ख्यालों में परिवर्तन उपस्थित कर रहा है, हम अपनी आराम-कुर्सी पर बैठे-बैठे ही तमाम दुनिया की सैर कर सकते हैं, यहाँ तक कि पृथ्वी से परे की भी यात्रा कर सकते हैं। इस स्थिति में कलाकार कला में नई अभिव्यक्ति की खोज करने को बाध्य है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि लेखक को भौतिकता के विशाल प्रतिरोध से भी बचना है। कला संसार के साथ सतत संघर्षशील है जिससे कि पुनर्रचना हो सके, जिससे मनुष्य की आत्मा में उसका प्रवेश हो सके।

सोवियत लेखक कभी भी रूप की नवीनता के अन्वेषण के विरोधी नहीं रहे, बशर्ते कि वह कथ्य से संयुक्त हो। वे तो प्रकृतिवश उद्भावक या नवोन्मेषकारी रहे हैं। वे यह दिखाना अनिवार्य समझते हैं कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में बड़े गंभीर युगांतरकारी परिवर्तन हो रहे हैं। स्वयं मनुष्य और उसकी प्रवृत्ति में रूपांतर हो रहा है। इससे लेखक पर नए दायित्व आ गए हैं, उसके कर्तव्य नए हो गए हैं। सोवियत लेखकों की इस खोज और उपन्यास के नए पहलुओं पर कोंस्तानिन फेदिन ने कहा : 'यथार्थ की सामग्री सतत बदलती जा रही है। अतः यह स्वाभाविक है कि उपन्यास में उसकी अभिव्यक्ति भी परिवर्तित रूप में होगी। रूप रेडीमेड पोशाक नहीं है। उपन्यासकार का इसके संबंध में दृष्टिकोण भी उस सामग्री से उत्पन्न होता है जिसे उसने जीवन से ग्रहण की है।'

अलेक्जेंडर त्वारदोव्स्की ने भी शुद्ध रचनात्मक स्तर पर लेखक के इस संकट की चर्चा की। उन्होंने कहा कि लेखक को यह अवश्य पता होना चाहिए कि आखिर वह चाहता क्या है! इच्छित लक्ष्य तक पहुँचना तब संभव नहीं हो पाता जब प्रारंभ हो ही लेखक को अपने लक्ष्य को धुंधला ज्ञान हो। इल्या एहरेनबुर्ग ने कहा कि हर रचनात्मक कृति में ऐसा संकट आता है, और खास कर लेखक के लिए संकट का अर्थ है गर्मधारण का प्रयास जो कष्टदायक है ही।

'उपन्यास पर संकट' की जो धारणा प्रारंभ में अत्यंत गंभीर प्रतीत होती थी, वह क्रमशः समाप्त होती चली गई। किंतु इस संबंध में अन्य लोगों ने भी विचार व्यक्त किए।

कुछ वक्ताओं ने अपना प्रहार मुख्यतः परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास पर किया और कहा कि इसके रूप अब ठस और जड़ हो गए हैं, ये अब सामान्यत्ता वर्णनात्मक और त्वरित परिवर्तनशील यथार्थ को प्रतिबिंबित करने में असमर्थ हो गए है। रोजर केलोइस (फ्रांस) ने कहा कि जिन लोगों ने साहित्य को बहुत समृद्ध किया है वे वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के उपन्यास की विधा से काफी अलग हट गए हैं। उनके अनुसार 'उपन्यास पर संकट' के अंतर्गत मूल बात है कला के क्षेत्र में नए मर्गों की खोज, किंतु अधिकांशतः ये अन्वेषण अपने चरित्र के कारण उल्लेखनीय है।

गुइदो पायोवेने (इटली) ने बड़े तीखेपन के साथ परंपरागत उपन्यास की विधा की अनुपयुक्तता पर अपने विचार व्यक्त किए। उनके अनुसार आज पश्चिम में कोई भी लेखक प्राचीन उपन्यास को स्वीकार नहीं कर सकता। लेखकों को दोस्तोव्स्की, प्रूस्त और ज्वायस की परंपरा का अनुसरण करना चाहिए। चूँकि इन उपन्यासकारों ने मनुष्य अंतर्जगत का अनावरण किया है। किंतु उन्होंने स्वीकार किया कि प्रूस्त और ज्वायस ह्रासोन्मुख संस्कृति के साक्षी हैं, वे स्वयं भी पतनशील प्रवृत्ति के हैं और नव-यथार्थवादी उनसे विमुख हो रहे हैं। उनके अनुसार समसामयिक नवयथार्थवादी उपन्यास खंडित यथार्थ के सामान्यीकरण के नए प्रयत्नों का ही प्रारंभ है।

जिन लोगों ने परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास पर प्रहार किया, यहाँ तक कि समाजवादी यथार्थवाद पर भी चोटें कीं–उन लोगों में से बर्नार्ड पिगार्ड (फ्रांस) ने यह भी स्वीकार किया कि नया उपन्यास अभी तक लिखा नहीं गया है, यह अभी लिखे जाने, विधा के रूपांतरण, की प्रक्रिया में है। पुराने उपन्यास के विरुद्ध जो कुछ भी नया सामने रखा जा रहा है अर्थात् अउपन्यास या नव-उपन्यास, उन्हे वस्तुतः प्राक्-उपन्यास समझना चाहिए क्योंकि यह कुछ इस तरह का है जिसने अपना रूप पूरी तरह ग्रहण नहीं किया है, किंतु यह नए उपन्यास के प्रारंभ का प्रयास है और भविष्य के उपन्यास का मार्ग इससे साफ होता है।

लेखक पाठक को क्या देना चाहता है–इस समस्या पर निर्भर यह अनेकपक्षीय प्रश्न है। क्या हम कह सकते हैं कि पाठक को क्या मिल रहा

है? केवल 'अन्वेषण', मात्र 'प्राक्-उपन्यास?' इस तनावपूर्ण संसार में क्या यह नगण्य नहीं है? फिर दूसरा आकस्मिक प्रश्न उठ खड़ा होता है—लेखक के दायित्व का प्रश्न। लेखक किसके लिए लिखता है? आखिर वह क्यों लिखता है?

जो लेखक ज्वायस, काफ्का और प्रूस्त को अपनी असली विरासत मानते हैं और उन्हे पश्चिमी संस्कृति का आधार समझते हैं, वे स्वयं अपनी धारणा के संबंध में संदिग्ध हैं। उदाहरण के लिए विगोरेली (इटली) ने कहा : 'हाँ, वे हमारे पिता है, किंतु क्या अब वे हमारे पितामह नहीं हो चुके हैं? अर्थात् वे अब पूरी तरह पुराने पड़ चुके हैं, आज का साहित्य वर्तमान समस्याओं के चित्रण के लिए ज्वायस, काफ्का और प्रूस्त के रास्ते पर नहीं चल सकता।

यह भी उल्लेख किया गया कि समसामयिक उपन्यासकारों के अनेक प्रयोग इस दृष्टि से निष्फल है कि समग्र मनुष्य को, जो कि इसका विषय है, उपन्यास खो बैठा है। उपन्यास केवल यथार्थ के चित्रण पर बल देता है तो समझना चाहिए कि यह गहरे आंतरिक संकट का स्पष्ट इंगित है, लेखक का स्वयं से असंतोष का चिह्न है। गियाकोमो देबेदेंती (इटली) ने इतालवी साहित्य के नवयथार्थवाद के सामने उपस्थित नई कठिनाइयों की चर्चा की और कहा कि यह दो प्रकार के खतरों से जूझ रहा है : एक अंतर्मुखता तथा दूसरा प्रकृतिपरकता। अनेक लेखकों के उपन्यास की विधा को अतिक्रमणकारी कहा और इसमें निश्चित रूपविधान का अभाव बतलाया। इन उपन्यासों में पात्रों को कभी जीवंत बनाने का प्रलोभन होता है, और कभी इस प्रलोभन के भटकने का प्रयास। परिणामतः हमारे समाने जो आता है, वह वस्तुतः उपन्यासकार की नोटबुक होता है, रफ दस्तावेज होता है जिसे उपन्यास लिखने के उद्देश्य से किसी ने तैयार किया है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी इतालवी समीक्षकों की सहानुभूति नए उपन्यास की तरफ है, ऐसे उपन्यासों की ओर है जिनमें हर कोई आकस्मिकता और अज्ञात का सतत सामना करता रहता है, जैसा कि आज की दुनिया में हो रहा है।

क्लासिकी और समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास पर आक्रमण अन्य दिशाओं से हुआ। यह प्रहार नथाली सेरीते और एलेन राब्ब-ग्रिलेन की ओर से हुआ

जो 'उपन्यास की नयी धारा' के फ्रांसिसी प्रर्वत्तक है। यह धारा क्लासिकी विरासत के प्रति अनादरपूर्ण भाव रखती है; परंपरामात्र को अनादर की दृष्टि से देखती है, जिस तरह कि 1920 के रूसी भविष्यवाद के लेखकों का परंपराविरोधी विचार था। हम लोगों को युवा सोवियत लेखक वेसिली आकस्योनोव ने यह स्मरण दिलाया।

राब्ब-ग्रिले इस बात से तो सहमत है कि पुराने उपन्यास और उन्नीसवीं सदी के मूल्यों के बदले अन्य कुछ प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए; किंतु प्रश्न है कि बदले में किसे प्रतिष्ठित करें? उन्होंने स्वीकार किया कि उनका दृष्टिकोण कमजोर लग सकता है किंतु वे जिस दिशा में जा रहे हैं, उसे व्यक्त करने के उद्देश्य से लिखना चाहते हैं, क्योंकि केवल इसी रास्ते लेखक नए कलात्मक मूल्यों को ढूंढ सकता है। उन्होंने कहा कि समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास संतोषजनक नहीं है क्योंकि यह केवल जाने-पहचाने नैतिक मूल्यों तक ही अपने को सीमित रखता है।

नथाली सेरौते ने भी लगभग ये ही बाते कहीं। वे बोलीं कि लेखक को दृश्यमान, ज्ञात और समझ लिए गए यथार्थ से मुँह फेर लेना चाहिए और अपने नए यथार्थ की रचना करनी चाहिए; जो दृश्यातीत है, उसकी खोज करनी चाहिए, खुद से अजनबी अंतर्जगत पर उसे अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

इसी प्रकार के आत्मपरक विचार पहले भी व्यक्त किए गए थे, किंतु इनसे सहमत होना असंभव है, क्योंकि अंततः हमें ये सौंदर्य संबंधी व्यक्तिवादिता की उसी भूलभुलैया में ले जाते हैं जिससे इस सदी के प्रारंभ में अनेक लेखक मुक्त होने के लिए छटपटाते रहे।

आत्मविश्लेषण और आत्मप्रकाशन गहरे हो सकते हैं किंतु यदि वे सत्य से दूर हैं तो उनसे उस महान कलात्मक सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती जो लाखों पाठकों के हृदय को आलोकित करता है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है और जिसे नथाली सेरौते, ज्यां पाल सार्त्र तथा अनेक लेखकों ने स्वीकार किया है कि पश्चिमी लेखकों के पाठकों की संख्या अत्यंत सीमित है, जबकि समाजवादी यथार्थवांद के लेखकों की पाठक संख्या विशाल है। यह भी

स्वीकार किया गया था कि केवल इससे ही समाजवादी देशों के लेखकों पर नई जिम्मेवारियाँ आ जाती है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण स्वीकृति मानी जाएगी।

लेखक और यथार्थ की समस्या बहुत पुरानी है, किंतु यह सदैव नई ही रहती है। अपने अनुभवों के आधार पर तथा समूचे संसार के साहित्यिक विकास के आधार पर, सोवियत लेखक पहले ही इस निर्णय पर पहुँचे थे कि लेखक और यथार्थ दोनों में से किसी को भी न तो गौरवान्वित करना चाहिए और न ही नगण्य समझना चाहिए। इस नियम में ज़रा भी लापरवाही हमें या तो आत्मपरकता की ओर ढकेल देती है या प्रकृतिपरकता की ओर। कला का सत्य न तो यथार्थ से विमुख होने पर उपलब्ध किया जा सकता है और न यांत्रिक ढंग से जीवन के प्रस्तुतीकरण या 'चेतनाप्रवाह' के द्वारा। सृजनात्मक कल्पना, फंतासी, प्रतीक आदि कला के सत्यों की उपलब्धि करा सकते हैं, बशर्ते कि लेखक जनजीवन के करीब हो और जीवनसामग्री का सोद्देश्य चयन करे अर्थात् उसे पता हो कि वह किस लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है।

ओविदियु क्रम्नीसिएनु (रूमानिया) ने ठीक ही कहा है कि नवउपन्यास स्वयं को विचित्र प्रकार की अराजकता और विचित्र प्रकार की निरंकुशता के साथ व्यक्त करता है। अनेक लेखक तो ऐसे है जो उपन्यास को लेखक से मुक्त रखना चाहते हैं, परंतु यह असंभव है। वस्तुतः लेखक स्वयं ही मुख्य पात्र की भूमिका में आ उपस्थित होता है। लेखक के हस्तक्षेप के बिना उपन्यास में निष्ठा निराधार ही है।

वर्णन और सांवादिकता की ढीलीढाली बाढ़ नायकविहीन और विषयविहीन उपन्यासों के लिए अवलंब का काम करती है जिससे ये उपन्यास अपनी विधा के सभी गुणों से रिक्त प्रतीत होते हैं। श्लेषात्म के चित्रण की यह चाह वस्तुतः एक भंगिमा मात्र ही रह जाती है। श्लेषात्म की गतिविधि? ये कितने ही अर्थपर्ण क्यों न लगते हों, पर जीवन को बोधहीनता की सीमा तक ले जाकर चित्रित करने का मतलब क्या है? और इस तरह कला उस क्षेत्र का दायित्व निभाना चाहती है जो उसकी पूरी प्रकृति से परे है।

यद्यपि एंगस विल्सन (इंग्लैंड) ने अपने को व्यक्तिवादी लेखक के रूप में घोषित किया किंतु उन्होंने लेखक के अंतर्जगत की क्रियाओं के सचेत

चित्रण के प्रयासों पर एतराज जाहिर किया। फिर पायोवेने ने यह उल्लेख किया कि उपन्यासकार की भावनाएँ चूंकि चयनोन्मुख होती है, अतः वे बहुत कम ही व्यक्तिगत होती हैं।

जैसा कि अनेक लेखकों ने सोचा था, वैसा ही हुआ अर्थात् सोवियत लेखक तथा समाजवादी देशों के लेखक पूरी तरह नवउपन्यास से असहमत रहे। चूँकि वे कह रहे थे कि नवउपन्यास के लेखक देखे गए यथार्थ को ही दिखाते हैं और केवल यही वह विधा है जिसके माध्मय से वर्तमान संसार को व्यक्त करने की संभावना बची है। इसके अलावा इंजो पासी (इटली) के इस प्रस्ताव से भी असहमत रहे जिसके अनुसार सामाजिक तत्व के बदले वैयक्तिक तत्व को स्वीकृत करने पर जोर दिया जा रहा था तथा यह सिद्धांत घोषित किया जा रहा है कि नव उपन्यास मनुष्यविरोधी सभी बाधाओं पर विजय पाने में सक्षम है।

बर्नार्ड पिगार्ड ने कहा कि नया उपन्यास कल्पना की स्वच्छंदता पर अवलंबित है। इस विचार का खंडन करते हुए रिसजर्द मतुस्जेव्स्की ने कहा कि कल्पना कोई विशेष आश्चर्य का काम नहीं करती, यह सदैव सीमित होती है, जबकि यथार्थवाद की संभावनाएँ अक्षय है क्योंकि यह वास्तविकता के अनंत वैविध्य पर आश्रित होता है।

इस तरह दो परस्पर विरोधी सिद्धांतों 'आधुनिकतावाद' और 'यथार्थवाद' का संघर्ष स्पष्ट हुआ। परिसंवाद में एक खास कठिनाई यह उत्पन्न हो जाती थी कि पश्चिमी वक्ता जिन्हें उद्धृत करते थे, वे अत्यंत सीमित थे। अनेक ख्यातिलब्ध समसामयिक उपन्यासकारों के नाम तक नहीं उल्लिखित हुए। एंगस विल्सन और इवान अनीसीमोव ने इस तरफ इशारा किया।

विल्सन तथा अनेक लेखकों ने यह कहा कि न तो उपन्यास का विगत और न भविष्य इस रूप में देखना चाहिए मानो वह कुछ जैसे....हो। मूझे तो ऐसा लगता है कि सत्य इस तथ्य में निहित है कि कुछ लोगों ने नए उपन्यास को भविष्य के उपन्यास के बीज के रूप में व्यर्थ ही अपना समर्थन प्रदान किया है; अन्य लोग इसे एकदम अस्वीकार करते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों की असीमित संभावनाओं पर भी विचार करना चाहिए, खासकर इसलिए कि

समाजवादी यथार्थवाद के उपन्यास में कलात्मक समाधानों की विशाल निधियाँ और अनंत वैविध्यों का बाहुल्य है। केवल इस तथ्य से हम इस बात को व्याख्यायित कर सकते हैं कि इस अधिवेशन में भाग लेने वाले अनेक लोग सोवियत लेखकों की प्रसिद्ध नामावली मात्र से उन्हें जानते हैं।

उपन्यास स्वयं के लिए नहीं गढ़े जाते हैं, वे पढ़ने के लिए लिखे जाते हैं। यह सत्यकथन मात्र नहीं है, बल्कि वस्तुतः सत्य है। जिस उपन्यास का पाठक नहीं है, वह मानो लिखा ही नहीं गया है। चाहे वे अल्प संख्या में हों या विशाल संख्या में, चाहे वे जनसाधारण में से हों या अभिजात वर्ग में से–उनकी चर्चा स्वाभाविक ही है।

('सोवियत लिटरेचर' नवंबर 1963 से)

1. उपन्यास

रामचन्द्र शुक्ल

आजकल उपन्यास लिखने में बहुत लोगों की धड़क खुल गई है। इनमें यदि थोड़े ऐसे हैं जिन्हें अपनी कल्पना और अनुभव का सहारा है तो बहुत से ऐसे भी हैं जिनका अन्य भाषाओं की विख्यात पुस्तकों ही पर गुज़ारा है। उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव प्रकृति पर इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर है। बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना। तोता मैना का किस्सा और तिलस्म ऐयारी की कहानियाँ निस्संदेह कल्पना की क्रीड़ा है और असत्य हे, पर स्वर्णलता, दुर्गेश नन्दिनी, बंगविजेता, जीवन संध्या, बड़ा भाई आदि के ढंग के गार्हस्थ और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमानमूलक और सत्य है, उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाय तो जान पडेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने हैं।

संसार में मनुष्य जीवन संबंधी बहुत सी ऐसी ऐसी बातें नित्य होती रहती है जिनका इतिहास लेखा नहीं रख सकता पर जो बड़े महत्व की होती हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं का जोड़ है। पर बड़े से बड़े इतिहास और बड़े से बड़े जीवन चरित्र में भी इन घटनाओं का समावेश नहीं हो सकता। जब इन सूक्ष्म घटनाओं के संयोग में कोई उग्र घटना उमड़ पड़ती है तब जाकर इतिहास की दृष्टि उस पर पड़ती है। अपनी असंख्यता और क्षिप्रगति के कारण ऐतिहासिक प्रमाणों की पकड़ में न आनेवाली इन घटनाओं के निदर्शन के निमित्त मनुष्य की अनुमान शक्ति उठ खड़ी होती है जो अनेक व्यापारों के अभ्यास से वैसे ही किसी एक व्यापार का आरोपण कर सकती है। इस शक्ति को रखने वाले उच्च कोटि के उपन्यास लेखक जिन जिन बातों का उल्लेख अपनी कथाओं में करते हैं वे सब ऐसी बाते होती हैं जो संसार में बराबर होती रहती है और समाज की परिचित गति के अंतर्भूत होती है। जबकि इन घटनाओं का आरोप करने में सृष्टि के व्यापारों को निरीक्षण करने की अपेक्षा हुई तब वे बिलकुल कल्पना कैसे कही जा सकती है? उनका आधार सत्य है, उन्हें असत्य नहीं समझना चाहिए।

ऐतिहासिक आख्यानों के वर्णन करने में कविगण इस अनुमान का सहारा लेते हैं। जिन छोटे-छोटे अंशों को इतिहास छलाँग मारता हुआ छोड़ जाता है, कवि अपने सत्यमूलक अनुमान के बल पर उनकी एक लड़ी जोड़कर जीवन का एक चित्र पूरा करके खड़ा करता है। धनुषभंग होने पर परशुराम का राम और लक्ष्मण पर क्रोध करना इतिहास की बात है पर परशुराम और लक्ष्मण के बीच जो-जो बातें हुई वह कवि का अनुमान है। कवि ने लक्ष्मण और परशुराम के स्वभाव तथा अवसर की ओर ध्यान देकर अनुमान किया कि उनके बीच ये या इसी तरह कि बातें अवश्य हुई होंगी। कैकेयी का कोपभवन में जाना तो इतिहास ने बतलाया पर उसने जो चुटीली बातें राजा दशरथ को कहीं उन्हें भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने अनुमान के अनुसार जोड़ा है। इन छोटी-छोटी बातों के समावेश के कारण कोई ऐतिहासिक काव्य या आख्यान असत्यमूलक नहीं कहा जा सकता। बिना इन बातों का जोड़ लगाए ऐतिहासिक वृत्त स्वाभाविक मानव व्यापार समझ ही नहीं पड़ते। ऐतिहासिक

उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाए जाते हैं और कल्पित कहे जाते हैं यदि वे उस समय की सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई बड़ी भारी भूल नहीं है। क्योंकि उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है पर खंडन करने का एक भी नहीं। यदि कोई अनुभवी लेखक महाराणा प्रतापसिंह वा शिवाजी की असंख्य सेना में से किसी सैनिक के च्युत कर उसका साहस तथा किसी रमणी पर प्रेम तथा उसका गार्हस्थ जीवन आदि दिखलावे तो हमें इन बातों को अघटित और असत्य मानने का कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि हमें तो उस समय का सामाजिक चित्र देखना है, न कि किसी व्यक्ति के विषय में छानबीन करना। इसी प्रकार किसी इतिहास प्रसिद्ध घटना के ऐसे अंगों का वर्णन करना भी उपन्यास लेखक का काम है जिन पर इतिहास ने ध्यान नहीं दिया। यदि हल्दीघाटी की लड़ाई का दृश्य दिखाने में लिखा जाए कि "रामसिंह ने भाला मारा, ग़ाजी खाँ की पगड़ी गिरी, राजपूतों को महाराणा ने यह कहकर बढ़ावा दिया, अमुक भील ने पत्थर लुढ़काया", तो इन अनुमानित व्यापारों को उस लड़ाई के अंतर्गत मानने में कोई बाधा नहीं है। ऐसे ही व्यापार की आंशिक वा साधारण सूचना पाकर उपन्यासकर्ता विशेष उदाहरण का अनुमान भी कर सकता है। जैसे औरंगजेब के लिए हिंदुओं को सताना और उनके मंदिर तोड़ना साधारण बात प्रसिद्ध है। अतः यदि उस समय की कहानी लिखते हुए कोई किसी बस्ती में एक विशेष नाम का मंदिर अनुमान करके उसका तोड़ा जाना दिखलावे तथा किसी अनुमानित व्यक्ति विशेष की पीठ पर काज़ी के कट्टरपन के कारण कोड़े पड़ने की बात सुनावे तो वह मिथ्या-भाषण का दोषी नहीं।

इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बँधा है एक सांकेतिक व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का संतोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कहकर छुट्टी पा जाएगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जाएगा।

यहाँ पर यह भी समझ रखना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासकर्ताओं के इस अधिकार की भी सीमा है। यह उन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं को ऊपर से ला सकता है जो किसी ऐतिहासिक घटना के अंतर्गत अनुमान की जा सकें, अथवा संसार की गति और समाज की तत्कालीन अवस्था का अंग समझी जा सकें। न वह किसी विख्यात घटना में उलटफेर कर सकता है और न ऐसी बातों को ठूँस सकता है जिनका अनुमान उस समय की अवस्था को देखते नहीं हो सकता। इन ऊपर लिखी बातों पर विचार करने ही से यह विदित हो गया होगा कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखने क लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ ही साथ परंपरागत रहन-सहन, बोलचाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए।

सामाजिक उपन्यास जिन-जिन चरित्रों को सामने लाते हैं वे या तो ऐसे हैं जो सामाजिक व्यापारों को औसत हैं अथवा जिनका होना मानव प्रवृत्ति की चरमसीमा पर संभव है। कहीं पर ये उपन्यास यह दिखलाते हैं कि समाज कैसा है और कहीं पर यह दिखलाते हैं कि समाज को कैसा होना चाहिए। ये कहीं तो उन असंख्य व्यापारों में से जिनसे हम घिरे हैं कुछ एक को ऐसे स्थान पर लाकर अड़ा देते हैं जहाँ से हम उनका यथार्थ रूप और सृष्टि के बीच उनका संबंध दृष्टि गड़ा कर देख सकते हैं और कहीं उन संभावनाओं की सूचना देते हैं जिनसे यह मनुष्यजीवन, देवजीवन और यह धराधाम स्वर्गधाम हो सकता है। सतोगुण की जो मुग्धकारिणी छाया ये प्रतिभासंपन्न लेखक एक बार डाल देते हैं वह पाठक के हृदय पर से जीवन भर नहीं हिलती, मानव अंतःकरण को सौंदर्य की जो झलक ये एक बार दिखा देते हैं वह कभी नहीं भूलती। कथा के मिस से मनुष्यजीवन के बीच भले और बुरे कर्मों की स्थिति दिखाकर जितना ये लेखक आँख खोल सकते हैं उतना अहंकार से भरे हुए नीति के कोरे उपदेश देने वाले नहीं। चाणक्य, स्माइल्स आदि नीति छाँटने वाले रूखे लेखक जनसाधारण से अपने को श्रेष्ठ समझ जिस ढब से आदेश चलाते हैं वह मनुष्य की आत्माभिमान वृत्ति को अखर सकता है। ये लोग सदाचार का स्वाभाविक सौंदर्य नहीं दिखला सकते जिनकी ओर मनुष्य मोहित होकर आपसे आप ढल पड़ता है। अस्तु, चाणक्य

नीति और स्माइल्स के 'कैरेक्टर' आदि की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के उपन्यासों का पढ़ना आचरण पर कहीं बढ़कर प्रभाव डालता है।

बड़े लोगों के जो जीवन चरित्र लिखे जाते हैं वे भी मानव जीवन के पूरे और सच्चे चित्र नहीं। उनमें भी बहुत सी सूक्ष्म घटनाएँ तो असामर्थ्य के कारण छूट जाती है और बहुत सी स्थूल घटनाएँ किसी विशेष अभिप्राय से छिपा दी हैं। उनमें मनुष्य के अंतःकरण की वृत्तियाँ साफ साफ नहीं झलकाई जातीं। वे खेल आदि अंग्रेजी लेखकों ने अपने चरित्र नायकों की बहुत छोटी-छोटी बाते भी दर्ज की हैं पर वे जोड़ सी मालूम होती है, उनमें औपन्यासिक पूर्णता नहीं आई। बादशाहों तथा वैभवशाली पुरुषों के जो चरित्र लिखे जाते हैं वे तो और भी कृत्रिम होते हैं। किसी महाराज ने अपनी गाड़ी पर से उतर अस्पताल में जा किसी रोगी से दो बातें पूछ ली तो उनकी दया और करुणा का कहीं ठिकाना नहीं। क्या इन बातों से मानव अंतःकरण की सच्ची परख हो सकती है। वड्र्सवर्थ, थैकरे, डिकेंस और जार्ज एलियट आदि बड़े बड़े अंग्रेजी कवि और उपन्यास लेखक तथ लेखिकाओं ने दीन से दीन और तुच्छ से तुच्छ लोगों की झोंपड़ियों में जीवन के ऊंचे से ऊँचे आदर्श दिखलाए हैं।

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 15, संख्या 1, 15 जुलाई 1910)

2. उपन्यास-रचना

प्रेमचंद

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहाँ तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचना इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास ही का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती ने गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं। हिंदी ने पहले अद्‌भुत रस के उपन्यासकार पैदा किए पर अब धीरे-धीरे उसमें चरित्र-चित्रण, मनोभाव और जासूसी के उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े ही दिनों में इस विषय में किसी प्रान्तिक-भाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरल साहित्य (Light literature) कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। पर उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शनशास्त्र के ग्रंथ लिखने में। उसे सबसे पहले

उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे? भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना का चित्रण करे? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसंद कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लाट की चिंता होती है। वह सोता या जागता, चलता हो या बैठा, इसी चिंता में डूबा रहता है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीनों, बरसों लग जाते हैं। इस चिंता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तम उसकी रचना होगी :

उपन्यास की बुनियाद पड़ गयी। अब हमें अपना भवन खड़ा करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं।

(1) अवलोकन (2) अनुभव (3) स्वाध्याय (4) अंतर्दृष्टि (5) जिज्ञासा (6) विचार-आकलन

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्याकर मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफर करने वालों के चित्त की क्या दशा होती है, कई बार बिना टिकट सफर किया। ऐसे ही एक और सज्जन ने पेरिस के चकलों की तस्वीर खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुंडों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं सेंध तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुरायी हो, या चोरी से मेला या दंगल देखने न गया हो, अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किए हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव को चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मंत्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नये-नये दृश्यों को देखने और नये-नये अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन अपने भावों को टटोलना है। सर फिलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो, लिखो।' लेखक अपने को कल्पना के द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना ही सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनी सफलता से दिखाया है। विदित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर, वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय मनुष्य को सम्पूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी.एल. राय ने कहा है – जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारी जाती है, उसमें मौलिकता है ही नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाए जाएँ, बल्कि अपने भावों और विचारों की अन्य लेखकों से तुलना की जाए और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाए। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखायी दे जहाँ उसकी कल्पना शिथिल पड़ गई है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को – और विशेष कर उपन्यास-लेखक को – विविध साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किए बिना कलम न उठाना चाहिए। यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए चाहे हम शुद्ध लिखें, पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता, उसी प्रकार तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है, हमारी बुद्धि विकसित होती है और उन साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपनी रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उनका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही ज़रूरत है, जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रान्सिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदैव ऐसे पुरुषें से जिज्ञासा करता रहता था, जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, सब विधाओं का ज्ञात नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे? डी.एल. राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे, तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे, उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहाँ कहीं कायल हो जाते थे, अपनी रचना में काट-छांट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊंचा रखना चाहिए। उसके मन में यह धारण होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूँगा ही नहीं, या लिखूँगा तो कोई अच्छी चीज़, जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर जल्द कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नयी बात सूझ जाती है, अथवा कोई नया दृश्य आँखों के सामने से गुज़र जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह ऐसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोटबुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमें तुरंत टांक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेख-बद्ध करने की आदत डालता है।

प्लाट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का वर्णन करने ही से कहानी में मनोरंजकता का गुण नहीं पैदा हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उनमें वास्तविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने लिखा है कि–उकलेदिस की भाँति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब उसके हल करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। उकलेदिस की विचार-श्रृंखला मे कोई ऐसी यक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती, जिसके लिए वहाँ

अनिवार्य रूप से स्थान हो। हम भी उसी का अनुसरण करके उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणतः प्लाट वह कथा है, जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुराने ढंग की कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उसमे रंग और रोगन की मात्रा न रहती थी, इसलिए वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-पाँच पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं दस-पाँच पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा यह प्लाट प्रदर्शित किया जाए।

चार्ल्स डिकेन्स के विषय में लिखा है कि जब वह किसी नए उपन्यास की कल्पना करते थे, तो महीनों तक अपने कमरे को बंद कर विचार-मग्न पड़े रहते थे, न किसी से मिलते थे, न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किबाड़ खुलते थे, तो उनकी दशा किसी रोगी से अच्छी न होती थी, मुख पीला, आँखें भीतर को धंसी हुई, शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में लिखा हुआ है कि वह संध्या समय किसी नदी के तट पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि-सामर्थ्य पर निर्भर है। जार्ज सैन्ड फ्रान्स की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर स्काट के बारे में यही मशहूर है कि वह प्लाट सोचने में मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई प्लाट ही नहीं होता। मार्क ट्वेन का Innocents Abroad इसी ढंग का उपन्यास है।

प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणतः उसके छः भेद माने गए हैं :

1. कोई अद्भुत घटना।
2. कोई गुप्त रहस्य।
3. मनोभाव-चित्रण।
4. चरित्रों का विश्लेषण और तुलना।
5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।
6 कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

1. अद्भुत : कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएँ बहुधा इसी किस्म की होती थी। ऐसी कहानी का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन है, पढ़ने से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसी कहानियाँ में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचरण-संबंधी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिए जाते हैं। इंग्लैंड के विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग किया है। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता है। बहुधा दृष्टांतों या 'ऐलीगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ़ तत्व हल किए जाते हैं। इंग्लैंड में जान बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहाँ प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टांतों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिए हैं। महाभारत पुराण, उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टांत भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टाल्सटॉय और हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टांत रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना यदि बहुत सरल है तो उसके साथ ही अत्यंत कठिन भी है।

2. गुप्त रहस्य : जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करना पड़ता है। संभव है रहस्य आरंभ से ही खुल जाए अथवा लेखक की रहस्योद्घाटना पाठक को संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से पैशाचिक घटनाएँ भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंग्लैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्धहस्त है, फ्रांस में मार्स लेब्लांक और अमरीका में (एडगर एलन) पो। कॉनन डायल अभी जीवित हैं

पर अब आपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों में लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिरा असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी, यह तो बिलकुल साधारण बात थी। इसके साथ, पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखक का कौशल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वंय दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाए। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं और उनके पढ़ने से बुद्धि तीव्र होती है, कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिंदी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के सिवा किसी ने स्वतंत्र कल्पना नहीं की।

3. मनोभाव का चित्रण : ऐसे उपन्यासों में लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है जिनमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टाल्सटाय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक को पाठकों के सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है। कोई अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि और छिपाता है। अगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान ही भी सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

4. चरित्रों का विश्लेषण और 5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना : इन दोनो प्रकारों के उपन्यास लिखने के लिए ज़रूरी है कि लेखक में दिव्य कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भी प्रचुर मात्रा

इसीलिए कहा गया है कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आँखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक ही घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित करती है, इसका निरूपण सहज नहीं है। अनुभव बाह्य जगत्-संबंधी भी होते हैं और अंतर-जगत-संबंधी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का, विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातःकाल समीर के झोंकों में नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, आकाश कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वही लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहाँ काम नहीं दे सकती। लाजिम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे, उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा, वह किसी बंदर का दृश्य क्यों कर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की, वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदलकर उन स्थितियों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

6. कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार : किसी उद्देश्य विशेष से लिखे गए उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना ही क्या? आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की, कहीं न्यायालयों की, कहीं सामाजिक प्रथाओं की, कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती है, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। अगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता

है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं, उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था।

डिकेंस के प्रायः सभी उपन्यास, टाल्सटाय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, बालजक, ह्यूगो, मेरी करेली, जोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपन ग्रंथ रचे हैं। हाँ, कुशल लेखक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसका प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्रायः अपने काल के विधाता होते हैं। उनमें अपने देश को, अपने समाज को दुख, अन्याय तथा मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असंभव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी, लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का इतना प्रसार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे, कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते थे, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्व जानने के बाद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के मतानुसार वे ये हैं – सरलता, मौलिकता, रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ, पेचीदा, शैतान की आंत, पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाए, ऐसे उपन्यास को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया, वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रसंग आ गया, इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की।

सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती, इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष, आचार-व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त हो सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी ज़रूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो, उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है।

प्रेम, वियोग आदि विषय इतनी बार लिखे जा चुके है कि उनमें कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नये भावों का, नये विचारों का, नये चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अतः 'शुकबहत्तरी' से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ-न-कुछ ताजगी, कुछ-न-कुछ अनोखापन अवश्य होना चाहिए। रही रोचकता, वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी ज़रूर ही होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुंदरता, चरित्रों का चित्रण, घटना का वैचित्र्य, सभी सम्मिश्रित हो जाते हैं। तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हाँ, उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्तव्य पाठकों का गम गलत करना, उनका मनोरंजन करना है। और सभी बातें इसके आधीन है। जब पाठक का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों से लाभ उठाएगा? वह घृणा के साथ किताब को पटक देगा और सदा को लिए उपन्यासों का निंदक हो जाएगा। आज भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने व्रत कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिंदी के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश कर दिया है। नये उपन्यास-लेखकों का कर्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें, इस बदनामी के दाग को मिटा दें।

3. प्रबंधकाव्य, रोमांस और उपन्यास

देवराज उपाध्याय

वास्तव में देखा जाए तो किसी साहित्यिक रूपविधान के विकास के मूल में किसी चिरपरिचित पर नूतन दृष्टिकोण का समावेश ही होता है। एक विचारक के शब्द हैं : 'वन मे व्यू दि इवोल्यूशन आफ एव्री लिट्रेरी ज़ान्र ऐज़ दि एक्सप्लायटेशन ऑफ सम प्री-एमिनेंट टेक्निलकल प्रिंसिपुल्स, पाजिटिव ऑर निगेटिव,ऑन दि पोयटिक वैल्यू ऑफ आल अदर ऐवेलेबुल मैटीरियल्स'।

इसका भाव यही है कि तत्कालीन भावाभिव्यक्ति, के जितने साधन उपलब्ध है उन्हीं की सहायता से कोई बहुत ही आवश्यक कार्य संपादन किया जाने लगता है, जो होता तो बहुत ही महत्वपूर्ण है, पर आज तक जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था, तब साहित्य में एक नूतन रूप का आविष्कार होता है। उदाहरण के लिए काव्य के उस स्वरूप को लीजिए, जिसे अंगरेजी में 'बैलड' कहा जाता है। बैलड भी एक तरह की कविता ही है, पर ऐसी कविता है, जिसमें कथा के अंश की प्रमुखता उभरने लगती है। पहले जहाँ काव्य का, साहित्य का क्षेत्र उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की हरीतिमा से नेत्रों में आनंद का अंजन लगाता चलता था वही आज इस कथा का संबल पाकर इन बाह्य उपकरणों से बहुत कुछ स्वतंत्रता का अनुभव करने लगा। उसे यह भान होने लगा कि उसे गहराई से भी अधिक व्यापकत्व की आवश्यकता है, यदि छंद **का** बंधन हो भी तो ऐसा हो कि कथा को अधिक देर तक उलझाए न रख

सके। अतः इस वर्णनात्मक तत्व के प्रवेश मात्र से ही रचना के कलेवर से अनेक अनुपयोगी अंश इस तरह मुड़ते गए जिस तरह विकासक्रम में मानव-शरीर के बहुत से काम में न आने वाले अंगों का ह्रास होता गया है।

काव्य के उपकरणों के स्थान पर एक सीधी-सादी तीर की गति से निंरतर कुछ दूर तक लेकर समाप्त हो जाने वाली कथा की अवतारणा के कारण व्यापकता तथा विस्तार ने घनत्व का स्थान लिया और जटिलता पर सरलता का आदर बढ़ चला। पर यह अनिवार्य नहीं कि हर कथा का स्वरूप सीधा-सादा ही हो। यह छोटे-छोटे और सीधे-सादे दृश्यों के बदले विराटता और जटिलता का दृश्य उपस्थित करने लगती है, कथा में भाग लेने वाले पात्रों की संख्या में वृद्धि होने लगती है और एक साथ अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती है। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के सामूहिक आघात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप कथा-साहित्य के उस रूप की उत्पत्ति होती है, जिसे हम रोमांस कहते हैं।

इस रोमांस में हम एक विचित्र बात पाते हैं। कथा का विस्तार तो रहता ही है पर इसमें कवित्वपूर्ण भावात्मक वातावरण भी साथ-साथ घना होता जाता है। बैलड्स के कथात्मक तत्व में अपनी सत्ता की स्थापना के लिए कथेतर तत्वों को अथवा ऐसे तत्वों को जिनमें उसे सहायता देने का साक्षात् तत्परत्व नहीं है, या जो पहले से कथाभिन्न तत्वों की सेवा करते आए हैं, यथासाध्य पृथक ही रखने की प्रवृत्ति रहती है। यह स्वाभाविक भी है। पर प्रभुता की दृढ़ स्थापना हो जाने पर नीति की दूरदर्शिता ही माँग करने लगती है कि प्रजावर्ग के वे दल जो आज तक शासन संचालन से पृथक रखे गए हैं उन्हें भी क्रमशः हाथ बटाने के लिए निमंत्रित किया जाए। कथा जो बैलड के रूप में काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तो उसने काव्यतत्पर विपक्षी तत्वों को निकालना शुरू किया। पर बाद में अपनी स्थिति दृढ़ होने पर उसने इस निराकरण की नीति में परिवर्तन करके विरोधी तत्वों को ही अपना बनाकर उन्हें ऊँचे-ऊँचे पदों पर स्थापित करना प्रारंभ कर दिया। उदाहरणार्थ जब रोमांसों की प्रगति हुई, कथावस्तु की जटिलता बढ़ने लगी, उसके व्यापकत्व और विस्तार को संभालने के लिए बहुसंख्यक पात्रों का समावेश होने लगा तो जिनकी

सहायता लेकर कथा ललकारती हुई आगे बढ़ रही थी, उन तत्वों की शक्ति की सीमा भी दीख पड़ने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कहीं से कुछ और सहायता मिले बिना लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा हो रही है। इसके लिए रोमांसों का ध्यान अपने पूर्ववर्ती 'ट्रू बैडूर' नामक कवियों और उनके प्रयोगों की ओर गया। यह देखा गया कि कवि अपनी कविताओं में वीरों के अस्त्र-शस्त्रों, उनकी अलंकृत साज-सज्जा, रणक्षेत्र-प्रयाण, युद्ध और श्मशान-यात्रा इत्यादि की विस्तृत विवृति के द्वारा पाठकों के ऐंद्रिय कल्पनात्मक भावों को अपूर्व तृप्ति प्रदान करने में समर्थ होता है। क्यों नहीं इसी वर्णनात्मक साधन को थोड़ा मनोनुकूल रूप में परिवर्तित करके अपने उद्देश्य की सिद्धि का साधन बनाया जाए? बस क्या था, यही दूसरे से उधार ली हुई वर्णनात्मकता अपने नए रूप में आकर रोमांस की सेवा में नियोजित हो गई। इस वर्णनात्मकता ने पहला काम यह किया कि कथा की गति को मंद कर दिया। कथा जो तीर की तरह निकलकर आगे बढ़ती थी उसमें ठहराव आ गया, इसीलिए आप देखेंगे कि रोमांस के पात्र तथा उनकी कथा के विषय बहुत कुछ सीमित हैं। नायक व्यक्ति नहीं है, पर एक उच्चकुल समुद्भूत नायक है। उसका व्यवहार, सदाचार, आचरण इत्यादि एक साँचे में ढला हुआ है। वह राजा है, धर्मात्मा है, अपने भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित वीर (नाइट) है, यदि नायिका हुई तो वह सुंदरता की देवी होगी और अपनी रक्षा के लिए लोगों के हृदय में 'शिवैलरी' के भावों को जगाने की उसमें शक्ति होगी अथार्त् पात्र टाइप होंगे और व्यक्ति नहीं। उनके कार्यकलाप तथा उनकी प्रतिक्रिया के ढंग भी टिपिकल होंगे। वे सदा किसी महत्वपूर्ण वस्तु की खोज में निरत होंगे। प्रतिद्वंद्विता (होली ग्रेल) उनके जीवन का अंग होगा, सदा सामने एक उच्च आदर्श की लौ जगमगाती और उन्हें प्रेरित करती रहेगी, विपन्नों, विशेषतः निरीह नारियों का उद्धार उनके जीवन का व्रत होगा, प्रतिज्ञा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल होगा। प्रेम के लिए कठिन परीक्षाएँ, क्रीड़ा समारोह विवाह की धूमधाम, रण-प्रयाण, श्मशान-यात्रा के दृश्य, राक्षसों से युद्ध, धार्मिक युद्ध इत्यादि का वर्णन अधिकता से होगा, तिस पर भी इन सबके बीच एक सुंदरी कन्या का हाथ अवश्य होगा।

ये सब ही एक सफल रोमांस के उपकरण हैं और इन्हीं उपकरणों की धूमधाम में रोमांस ने दूसरों के घर स लाई हुई वर्णनात्मकता को ला बिठाया।

यहाँ तक तो कोई विशेष विचित्र बात नहीं हुई। पर रोमांस के रचयिताओं ने इनको नियोजित करने में जिस कौशल से काम लिया वह श्लाघ्य और उनकी कलात्मक सूझ का परिचायक अवश्य है। कथाप्रसंग के मध्य में पड़े हुए काव्यात्मक वर्णन कथा की गति को कुछ देर तक रोक कर ही नही रह जाते, वे कछ और करते हैं, पर अन्य तंतु अपने कार्य में क्रियाशील रहते ही हैं। और इस रोकथाम का प्रभाव पूरी रचना पर इस रूप में पड़ता है कि पूरी सर्जित जीवनानुभूति में एक बड़ी सूक्ष्म, प्रभविष्णु पर आह्लादक वक्रता आ जाती है। ऐसा मालमू होने लगता है कि घटनाओं की प्रगति रूक भले ही गई हो पर संभव है कि नज़रों से ओझल हो पृष्ठभूमि में चली गई हो, आस-पास ही कहीं उसकी छिपी धारा बहती हो और कभी आकस्मिक रूप में हमारे सामने मानो शून्य से टपककर आश्चर्य में डाल दे सकती हो। ठोस जयामिति (सालिड ज्योमेट्री) मानों के क्षेत्र में घुस आई हो। दो आयामों पर अपनी तूलिका से चित्र खींचने वाला कलाकार अचानक तीसरे आयाम को भी अपनी सीमा में लेने लगा हो।

रोमांस लेखकों ने इस काव्यात्मक वर्णन का जिस रूप में उपयोग किया है और कौशल का परिचय दिया है उसे देखकर आज बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व देखे गए (नहीं, सुने गए), दृश्य की याद आ जाती है। हमारे गाँव में अथवा आस-पास के गाँवों में उत्सव-समारोहों के अवसर पर संगीतज्ञों की एक छोटी मंडली आया करती थी और अपने संगीत कौशल का प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन करती थी। उसमें एक उस्ताद थे जिनका न तो गला ही मधुर था और न उन्हे कला में ही पारंगतता प्राप्त थी। हाँ, उन्हें बहुत से कवित्त, सवैए और दोहे याद थे। किसी संगीत के बीच मे, जिस समय संगीत अपना रूप खड़ा ही कर रहा हो, उसमें प्राणवत्ता आ ही रही हो वह कवित्तों और सवैयों के उद्धरण से संगीत की गति रोके देते थे। मस्तिष्क में संगीत के कारण एक तनाव की सृष्टि हो गई है, हम उसे सम पर आकर ताल पर गिरते देखने के लिए उत्सुक हैं तब गति रूक गई, कवित्त और सवैयों का तांता कुछ देर

चलता रहा। बाद में कवित्त की समाप्ति पर यथावसर रुकी पर छिपकर चलती रहने वाली संगीत की धारा को वह इस कौशल से पकड़ते थे कि सारी रिक्तता भर ही नहीं जाती थी पर मानो वही रिक्तता सबसे मूल्यवान बन जाती थी और उसका इस कौशल से भरा जाना तो सर्वस्व ही बन जाता था।

एक उदाहरण लीजिए। उन्होंने गाना प्रारंभ किया : 'का नैना झमकावे ठगिनियाँ, का नैना झमकावे।' कुछ देर तक गाने के बाद संगीत का स्वरूप खड़ा हो जाएगा और उसकी स्वाभाविक परिणति दीखने लगेगी। तब तक कवित्तों का पारायण प्रारंभ होगा। ध्यान रहे कि तब तक अन्य वाद्य यंत्र अपना काम करते रहेंगे, तबले पर थाप पड़ती रहेगी, हारमोनियम पर अंगुलियाँ नाचती रहेंगी। कवित्त शुरू होता है, वह भी एक विचित्र लहजे में :

लागत ही पावस के कामिनी कलोल हेतु,
कारी घटा देख चहुं ओर भटकतु हैं।
बीथिन में मोर सोर चातक की टेर सुनि,
बड़े बड़े ध्यानिन के ध्यान उचटतु है।।
ऐसी ऋतु मांहि पिया जाय कि बिदेस बसो,
दुखी अवलानि हृदय काम भयकतु हैं।
ज्ञानी, विज्ञानी और ध्यानिन को कौन कहे,
सावन की घटा देख जोगी जटा पटकतु हैं।।

अब इस 'पटकतु हैं' को पटककर वह इस कौशल से 'का नैना झमकावे' को वहीं पकड़ेंगे जहाँ छोड़ा था कि सारा वातावरण ही चमत्कृत हो जाए। हमारे रोमांसकार के रचयिता यही करते थे। जिस तरह कवित्त के कारण संगीत में वक्रता आ जाती थी जो कुशलता से सीधी होकर वातावरण को भव्यतर और समृद्धतर कर देती थी, उसी तरह इन काव्यात्मक वर्णनों ने प्रवेश करके प्रतिभा के सहारे रोमांसों को वैचित्र्यपूर्ण बना दिया था। सर्पगति का निरीक्षण कीजिए। वह कुछ आगे बढ़ता है, फिर कुछ पीछे मुड़ता है, इसी आकर्षण-प्रत्याकर्षण से गति पाता हुआ अग्रसर होता है और एक ऐसी

लहरीली गति की सृष्टि करता है जो अन्यथा कभी भी संभव न थी। रोमांसकारों ने इसी कला का विकास किया था। उन्होंने विरोधी शक्तियों से ही शक्ति प्राप्त करके अपनी प्रतिभा तथा रचनानैपुण्य का परिचय दिया था।

साहित्यिक क्षेत्र में रोमांस के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओं और जीवन की वास्तविकता में क्या संबंध था? कथात्मक साहित्य में वर्णित जीवन और प्रकृति के क्षेत्र में ईश्वर निर्मित जीवन में चार प्रकार के संबंध हो सकते हैं और उनके आधार पर कथाओं का वर्गीकरण हो सकता है – असंभव, दुर्लभ, संभव, सुलभ। इनके अंगरेजी प्रतिशब्द होंगे : इंपासिबुल, इंप्रोबेबुल, पासिबुल तथा प्रोबेबुल। आज की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास उत्पन्न हुआ है रोमांस से ही, पर अपनी पृथक सत्ता की घोषणा के लिए और रोमांस तथा अपने बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचने के लिए यही कहता है कि जहाँ रोमांसकार प्रथम दो प्रकार के संबंधों को उपजीव्य तथा आधार के रूप में ग्रहण करते थे वहाँ हमने उन्हें सर्वथा असंगत समझकर त्याग दिया है। हमारा संबंध जीवन और साहित्य के तृतीय और चतुर्थ प्रकार से ही है। इसी बात को क्लारा रीव ने अपनी पुस्तक 'प्रोग्रेस ऑफ रोमांस' में इन शब्दों में व्यक्त किया है :

> दि नावेल इज ए पिक्चर ऑफ रीअल लाइफ ऐंड मैनर ऐंड ऑफ टाइम्स, इन ह्विच इट इज रिटेन, दि रोमांज इन लोफ्टी ऐंड एलीवेटेड लैंग्वेज, डेस्क्राइब्स ह्विच नेवर हैप्पेंड नार इज लाइकली टु हैप्पेन, दि नावेल गिब्ज ए फेमिलियर रिलेशन ऑफ सच थिंग्ज, ऐज पास ऐवरी डे बिफोर आवर आईज, सच ऐज मे हैप्पेन टु अवर फ्रेंड्स आर टु देमसेल्व्ज, ऐंड दि पर्फेक्शन ऑफ इट इज टु प्रेजेंट एवरी सीन इन सो ईजी ऐंड नेचुरल ए मैनर ऐंड टु मेक दैम एप्पिअर सो प्रोबेबुल ऐज टु डिसीव अस ठंटू परसुएशन (ऐट लीस्ट ह्वाइल वी आर रीडिंग) दैट आल इज रीअल, अंटिल वी आर ऐफेक्टेड बाई जोयेज आर डिस्ट्रेसेज ऑफ पर्सस इन दि स्टोरी ऐज इफ दे वर अवर ओन।

अतः हम यह कह सकते हैं कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण, जीवन की सत्यता के नूतन परिवर्तित दृष्टिकोण की सवारी रोमांस के रथ पर चढ़कर जीवन के

पथ पर निकली तो धीरे-धीरे परिस्थितियों के बीच में पड़कर सारा दृश्य ही बदल गया अथवा यों कहिए कि परिवर्तित होने की विवशता उत्पन्न हो गई। रथ की सामग्री वही थी, पहिए वैसे ही थे, अश्व भी वही, बागडोर भी वही, पर वाहक बदल गया था, उसके विचार दूसरे थे, वह किसी दूसरे ही उद्देश्य से यात्रा के लिए निकला था, अतः कथा साहित्य के वातावरण में कायाकल्प का दृश्य उपस्थित हो गया।

18वीं शताब्दी के पश्चात् से लेकर आज तक औद्योगिक क्रांति और अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति से प्रेरणा ग्रहण करती हुई हमारी सभ्यता ने जो रूप धारण किया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता है 'छिन्न-भिन्नता', अर्थात् बाह्य रूप से साधन संपन्न होकर जंगलों के छिटपुट जीवन का परित्याग करके संगठित होकर नगर में लोग भले ही चले आए हों पर उनका हृदय शतधा टुकड़ों में विभक्त होता गया है। ये क्षणिक लहरें और बुदबुदों की पकड़ में आते आते फिसल पड़ने वाले बुदबुदों की छाया हमारे मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर काटती रहती है। और हमारी कल्पना और प्रतिभा को ललकारती है कि शक्ति हो तो मुझ पर आजमाकर देखो। है साहस हमें कलात्मक और दर्शनीय रूप में स्थित करने का?

इसी ललकार के उत्तर में हमारे आधुनिक उपन्यासों की सृष्टि हुई है और इस ललकार ने अपने रूप को इतनी शीघ्रता से बदला है कि कलाकार को साँस लेने तक की फुरसत नहीं रही है। कलाकार की प्रतिभा को पहले भी इस तरह के परीक्षण का सामना नहीं करना पड़ता था सो बात नहीं, पर इस तरह पद पद पर आगे बढ़ते रहने वाली और अपने भेष को परिवर्तित करने वाली विषयवस्तु से पाला नहीं पड़ा था। कला बाह्य वस्तु की अपनी आँच में गलाकर सार्थक रूप प्रदान करती ही है कि तब तक वह दूसरा रूप धारण करके कलाकार की प्रतिभा को चुनौती दे जाती है। 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।' याद रखना चाहिए कि आज का उपन्यास उसकी उपज है, जो आज शायद प्रथम बार पूर्णरूपेण खंड खंड हो गया है, खील-खीला होकर बिखर गया है, तिल-तुंडल न्याय का सच्चा उदाहरण उपस्थित कर रहा है। आज रूपक क्यों नहीं लिखे जाते? महाकाव्य

क्यों नहीं लिखे जाते? उपन्यासों और गीतिकाव्यों का ही बोलबाला क्यों है? इसीलिए कि उपन्यास के अतिरिक्त जितने भी साहित्यिक विधान है उनका निवेदन एक ऐसी जनता के प्रति होता है जो कलाकार की भावनाओं, विचारों, मान्यताओं तथा आस्थाओं से सहानुभूति रखती है; दोनों के तंतु, जिन्हें लेकर उनके मानसपट का निर्माण हुआ है, एक ही प्रकार के होते हैं, वे दोनों एक-दूसरे की भाषा को समझते हैं : रूपकों का निर्माण तो तभी हो सकता है जबकि दर्शक और नाटकाकार दोनों एक ही मानसिक और आध्यात्मिक जगत के निवासी हों, दोनों की मानसिक पृष्ठभूमि में समानता हो। नाटकों के इतिहास को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि नाट्यकला के चरमोत्कर्ष का युग वही रहा है जब नाटककार और दर्शकवर्ग में वही संबंध था जो उपासना के लिए आए भक्तों और पुरोहित में होता है। भक्तमंडली और प्रार्थना के पुरोहित में एक ही तरह के भावप्रवाह का संचरण होता रहता है। आज का लेखक जब कुछ लिखने के लिए अग्रसर होता है तो जो बात सबसे प्रमुख रूप में उसके सामने आती है वह यह कि उसको एक ऐसी जनता के प्रति आत्मनिवेदन नहीं करना है जो अलग-अलग कुरसियों पर बैठी रहकर भी एक ही भावतरंग पर वह रही हो। नहीं, उसे एक ऐसे जनसमूह का सामना करना है जो पास पास रहकर भी एक-दूसरे का नाम तक नहीं जानते, एक दूसरे को सशंक दृष्टि से देखते हैं और बिना परिचय के एक दूसरे से वार्तालाप भी करना पसंद नहीं करेंगे। सचमुच मानव इतिहास ने अभी तक ऐसा युग नहीं देखा था जिसमें मानवता बाह्य दृष्टि से तो इतनी पास आ गई हो, पर उसका अध्यात्म, उसका मानस, उसका हृदय इस तरह टूट-टूट कर बिखर गया हो। मानवता के हृदय को एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाला तार टूट गया हो और भूमि पर बिखरे हुए मनके शून्य में पड़े हुए अपने को नष्ट करने पर तुले हुए हों।

युग की इस वैयक्तिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व उपन्यास कर रहा है। यह एक अराजक युग की उपज है, अतः यह परंपरा प्राप्त उपादानों को ही लेकर चलता है, पर अराजकता का दृश्य उपस्थित हो ही जाता है। यही कारण है कि इसमें इतना लचीलापन है, इस पर किसी तरह का बंधन नहीं। यह कोई भी रूप किसी समय धारण कर सकता है। इसमें एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन

की कहानी रह सकती है, या एक घंटे की या एक मिनट की, मदोन्मत्त साहसिकों की कथा रह सकती है, या पूरा समाज भी इसकी परिधि में आ सकता है, या कथा का नितांत अभाव भी हो तो कोई परवाह नहीं, जीवित मनुष्यों की कथा हो सकता है, कब्र से उठकर यहाँ मनुष्य आ सकते हैं, भड़कीले वर्णन हो सकते हैं, रेखाचित्र हो सकते हैं या केवल अर्धस्फुट कथनों के द्वारा पाठकों की अनुमानवृत्ति या अर्थापत्ति के सहारे सब कुछ छोड़ा जा सकता है। सर्वसमर्थ, सर्वदा ईश्वर समकक्ष और झरोखे पर बैठकर सबका मुजरा लेने वाले लेखक की शैली अपनाई जा सकती है। उत्तम पुरुषात्मक 'मैं' वाली शैली, पत्रात्मक शैली या सबके विचित्र सम्मिश्रण से भी काम लिया जा सकता है। आज भावात्मक जगत में अराजकता है तो उसके प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यिक जगत में सुराज की व्यवस्था कहाँ से आ सकती है?

इस तरह की अराजकता के वातावरण का सामना करना हो और अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से ही इस बाह्याघात के प्रति प्रतिक्रियाशील होने की यदि मनुष्य के अंदर आंतरिक प्रेरणा हो तो उसके सामने कुछ ही ऐसे मार्ग खुले रह जाते हैं, जिन्हें वह ग्रहण कर सकता है। वह पलायनवादी हो सकता है अथवा डटकर परिस्थितियों का सामना करने के लिए ललकारकर, सामने आकर परिस्थितियों को मोड़ने का प्रयत्न करता है। यदि उसने पलायनवाद का मार्ग पकड़ा तो उसके दो रूप दृष्टिगोचर होंगे। प्रथमतः वह साहित्य के वास्तविक उद्देश्य और तत्व को छोड़कर शिल्पकार हो जाएगा, शैली और रचना की विचित्र कारीगरी के सहारे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करेगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो वह सारे वस्तुनिष्ठ जगत का परित्याग करके आत्मनिष्ठ जगत के आंचल में मुँह छिपा लेगा। अर्थात वह सारी दुनिया की कथा न कहकर अपनी ही कथा कहने लग जाएगा और इस प्रकार कथासाहित्य में आत्म-चरितात्मकता की वृद्धि होगी। तीसरी संभावना इस बात की है कि वह युग की प्रचलित अराजकता, उच्छृंखलता, सस्ती इंद्रियपरायणता, हवा के रुख पर हलके ढंग से मुड़ पड़ने वाली ढुलमुलयकीनी पर अपना आत्मसमर्पण कर दे और एक गुलाम की तरह 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना ही अपना कर्तव्य समझ ले। दिन के

मध्याह्न काल में भी यदि युगरूपी स्वामी कहता है कि संध्या हो गई तो वह तारे भी उगा देगा। यदि वह पलायनवादी न होकर यथार्थवादी हुआ और उसके अंदर हार्दिक और चारित्रिक दृढ़ता हुई तो उसकी लेखनी व्याख्यात्मक हो जाएगी। उसे पद पद पर अपनी बातों का स्पष्टीकरण करते चलना पड़ेगा, बात-बात पर अपनी सफाई देनी होगी, अपने को 'जस्टीफाई' करना पड़ेगा। पहले उसकी रचना में, उसका विश्वास था, सारी दुनिया है। केवल संकेत मात्र से उसके हृदय के सारे संस्कार झंकृत हो सकते हैं। पर आज उससे इस विश्वास का संबल छिन गया है। वह जानता है कि उसकी रचना को किसी का सहारा प्राप्त नहीं। अतः उसे अपना सहारा देना ही होगा, अपनी बात मनवानी ही होगी, फुसलाकर, पुचकारकर, नहीं तो गले पर रद्दा देकर भी। यही कारण है कि आजकल औपन्यासिकों का एक ऐसा दल है जिसने कथा भाग को अपने यहाँ से निष्कासित कर दिया है। यदि छोटी-सी कथा है भी तो उसे इतना पीटा गया है, इतना धुना गया है कि वह घटना न रहकर मानसिक जगत की लहर मात्र रह गई है। जेम्स ज्वायस, मार्सेल प्रूस्त, वर्जीनिया वुल्फ इत्यादि इस श्रेणी में आएँगे। हिंदी में इलाचंद्र जोशी के उपन्यास इस बात के प्रमाण हैं कि व्याख्यात्मकता ने कथा में कितना स्थान बना लिया है।

अब जिसे हमने पलायनवादी कथाकार कहा है उसके बारे में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। क्या कारण है कि अधिकांश कथाकारों में शिल्प का अंश अधिक उभरा हुआ है। उनमें और कुछ नहीं पर प्रयोगों की नूतनता अवश्य है, उनमें लोगों की तमाशबीन वाली प्रवृत्ति से लाभ उठाने का दृढ़ आग्रह है। कारण यही है कि कथाकर की प्रतिभा अपने प्रज्ञाचक्षु से देखती है कि आज की दुनिया अंदर से बंटी हुई भले ही हो पर बाहर से एक है, उसके भावजगत और अध्यात्मजगत के टुकड़े अवश्य उड़ गए हो पर ऐंद्रिय जगत बरकरार है। वह समुद्र की जलराशि की शाश्वतता को भले ही न देख सके पर वह लहरों के कलरवनर्तन का मजा खूब ले सकती है। वह साहित्य की आत्मा को भले ही न देख सके पर नामरूपात्मक जगत को खूब पहचान सकती है। पहले आलोचना का सिद्धांतवाक्य था 'का भाषा, का संस्करित, भाव चाहिए सांच,' पर अब अवस्था बदल गई है। अब भाव के महत्व के दिन

लद गए। भाषा अथवा शिल्प का महत्व बढ़ गया है। यदि शिल्पकारिता के अंश प्रौढ़ है तो रचना स्वीकृत हो जाएगी, आदरणीय होगी। यही इस युग का नारा है–'कला कला के लिए ' जिसका महत्व आज भी किसी तरह स्वीकारणीय है ही। आज की दुनिया के पास किसी रचना के मूल्यांकन के लिए एक कसौटी है अर्थात् 'टेक्नीकल स्टैंडर्ड'। वह इसी भाषा को समझती है। अतः साहित्यकार भी उसे तकनीक की उत्तमता ही प्रदान करेगा। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप' की चाहे किसी ने कुछ भी निंदा की हो पर उनकी तकनीक के तो सभी कायल हैं।

कथा-साहित्य में आत्म-निरीक्षणता का प्राबल्य इस नूतन युग की अराजकता की देन है। हिंदी प्रेमचंदोत्तर युग के कथा-साहित्य का बृहदंश आत्मनिरीक्षणात्मक हो गया है। प्रेमचंद स्वयं अपनी अंतिम कृति 'मंगल-सूत्र' में आत्म-निरीक्षक हो गए थे। जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत', इलाचंद्र जोशी का 'पर्दे की रानी', उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा', 'अंचल' का 'मरुप्रदीप' सब इसी शैली में है। यूरोपीय कथा-साहित्य में यही बात देखने में आती है। डी.एच. लारेंस, मार्सेल प्रूस्त, जेम्स ज्वायस, आंद्रे जीद इत्यादि में यही आत्म-निरीक्षणात्मक पद्धति प्रधान हो उठी है। क्या इन सबको केवल संयोग कहकर टाल दिया जाए? इसका एकमात्र कारण यही है कि बाह्य संसार में किसी एक आधार को न पाकर उपन्यासकार अपने में लीन होकर देखना चाहता है कि कहीं उसके अंदर ही शायद वह आधारशिला प्राप्त हो सके।

4. उपन्यास और कहानी

हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपन्यास और कहानियाँ हमारे साहित्य में नई चीज़ हैं। पुराने साहित्य में कथा, आख्यायिक आदि के रूप में इस जाति का साहित्य मिलता है पर उनमें और आधुनिक कथाओं – उपन्यास और कहानियों – में मौलिक भेद है। मौक़ा पाकर हम इस भेद के समझने का प्रयत्न करेंगे। अभी तो हम आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों की ही चर्चा करने जा रहे हैं।

उपन्यास इस युग का बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा नौजवान इस ज़माने में ऐसा मिले जिसने दो-चार उपन्यास न पढ़े हों। यह बहुत मनोरंजक साहित्यांग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्रायः कह दिया जाता है कि इस पुस्तक में उपन्यास का-सा आनंद मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचक ने उपन्यास का एक-मात्र गुण उसकी मनोरंजकता को ही माना है। इस साहित्यांग (उपन्यास) ने मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं का ही नहीं, नाटकों का भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़ कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पाँच सौ मील दूर से ऐसी किताब मँगा लेना कहीं अधिक आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पन्नों में ही लिए हुए हो।

उपन्यास में उन टँटों की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती जो रंगमंच सजाने में आ खड़े होते हैं। किसी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि आज के ज़माने में उपन्यास एक ही साथ शिष्टाचार का सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर है। मशीन ने ही इस जाति के साहित्य का उत्पादन बढ़ाया है और उसी ने इसके वितरण का पथ प्रशस्त किया है। उपन्यास साहित्य में मशीन की विजय-ध्वजा है। ऐसे लोकप्रिय साहित्य को समझने का प्रयत्न क्या करना भला! किंतु दुनिया में प्रायः ही ऐसा देखा जाता है कि सबसे प्रिय वस्तु को समझने में ही आदमी सबसे अधिक गलती करता है। प्रिय वस्तुओं के प्रति एक प्रकार का मोह हुआ करता है जो ज्ञान का परिपंथी है। उपन्यास के समझने में भी बहुत ग़लतियाँ की जाती हैं। सीधी लकीर का खींचना सचमुच टेढ़ा काम है।

परंतु उपन्यास है क्या चीज़? हिंदी के श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचंद ने लिखा है कि "उपन्यास की ऐसी कोई परिभाषा नही है जिस पर सब लोग सहमत हों।" फिर भी उन्होंने उसे समझाने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं :

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं, पर इतनी समानता रहने पर भी विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-संबंधी समानता और विभिन्नता – अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व – दिखाना उपन्यास का मूल कर्तव्य है।

"संतान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका

परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता और जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है जहाँ संतान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता उसका कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। इसी प्रकार अन्य मानवी गुणों की भी मात्रायें और भेद हैं। चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म और जितना ही विस्तृत होगा उतनी ही सफलता से चरित्रों का चित्रण हो सकेगा। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पिता पुत्र को कमार्ग पर चलते देखकर उसका घातक शत्रु हो जाता है। और वह भी संतान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। एक ऐसा संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी और जुआड़ी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।'

इस प्रकार प्रेमचंद जी उपन्यास को बहु-विचित्र मनुष्य-जीवन का चित्रमात्र मानते हैं। यह चित्र सुंदर हुआ है या नहीं और यदि सुंदर हो सका है तो पाठक की उत्कर्ष-सिद्धि में कहाँ तक सहायक हुआ है, यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है।

उपन्यास और कहानियों की हम इस अध्याय में एक साथ विवेचना करने जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि दोनों वस्तुतः एक ही जाति की चीज़े हैं। शुरू-शुरू में तो छोटे उपन्यास को 'कहानी' कहते थे। परंतु छापे के कल तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार ने छोटी कहानियों का बहुत प्रचार किया और धीरे-धीरे वे उपन्यास से स्वतंत्र हो गयीं। बाद में चलकर यह निश्चय हो गया कि आकार-मात्र ही कहानी की विशेषता नहीं है। कहानी का अपना एक लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कहानी-लेखक कम-से-कम पात्रों और घटना की योजना करता है। वह लक्ष्य ही प्रधान होता है, घटना और निमित्त-मात्र। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का प्रधान अंतर यह होता है कि उपन्यास में चरित्रों और घटनाओं का प्राधान्य रहता है, वे

केवल निमित्तमात्र नहीं होते, बल्कि उन्हें स्वच्छन्द रूप से विकसित होने का मौका मिलता है, जबकि ये दोनों ही तत्व कहानी में प्रधान न होकर निमित्त-मात्र बने रहते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह नहीं कहा जा सकता है कि कहानी में पात्र और घटना गौण होते हैं, बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे निमित्त-मात्र होते हैं; असली बात लक्ष्य होती है। और उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पात्र और घटना जितने सहायक होते हैं उतने ही रखे जाते हैं। लेखक का व्यक्तिगत मत इसमें अधिक स्पष्ट होता है। कुछ समालोचकों ने एक उपमा देकर इस बात को समझने की चेष्टा की है। उपन्यास एक शाखा-प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष है, जबकि छोटी कहानी एक सुकुमार लता। कुछ दूसरे समालोचकों ने बताया है कि उपन्यास और कहानी का वही संबंध है जो महाकाव्य और गीतिकाव्य का। इन उपमाओं के बहाने जो बात कही गई है उसे स्पष्ट भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है :—उपन्यास और कहानी दोनों एक ही जाति के साहित्य हैं, परंतु उनकी उपजातियाँ इसलिए भिन्न हो जाती हैं कि उपन्यास में जहाँ पूरे जीवन की नाप-जोख होती है, वहाँ कहानी में उसकी सिर्फ़ एक झाँकी मिल जाती है। मानव-चरित्र के किसी पहलू पर या उसमें घटित किसी एक घटना पर प्रकाश डालने के लिए छोटी कहानी लिखी जाती है।

देखा गया है कि अच्छे उपन्यासकार सब समय अच्छे कहानी-लेखक नहीं हो सके हैं, ठीक उसी प्रकार अच्छे महाकाव्य-लेखक सब समय अच्छे गीतिकाव्य-लेखक नहीं हुए हैं। यह तथ्य इस बात का सबूत है कि कहानी और उपन्यास के लिखने में भिन्न-भिन्न कोटि की प्रतिभा आवश्यक होती है। प्रेमचंद जी ने कहा है कि कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। कहानी-लेखक का उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य-जीवन को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र के एक अंग-मात्र को दिखाना होता है।

नये आलोचकों के मत से इधर कहानी की कारीगरी वाले दृष्टीकोण में थोड़ा और परिवर्तन हुआ है। अब प्रतिभा की अपेक्षा चतुरता और कारीगरी का मूल्य ज्यादा आँका जाने लगा है। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी

तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ-काल के लेखकों की लिखी हुई अत्यंत श्रेष्ठ कहानियों को भी कहानी-कला की दृष्टि से फीका समझा जाने लगा है।

"उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखक अपनी रचनाओं में मनोरंजकता, रहस्यमय कथानक, मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, गहरे यथार्थवाद और अनोखी सूझों का समावेश करके कहानियों के क्षेत्र में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते थे। परंतु कहानी-कला के वर्तमान आलोचकों की राय में इन सारी बातों की महत्ता बहुत कम रह गई है। इन चीज़ों को व्यर्थ या निस्सार तो आज का समालोचक भी नहीं कहता, परंतु अब वह कहानी के कलेवर को उसकी आत्मा से भी अधिक महत्व देने लगा है"–(चंद्रगुप्त विद्यालंकार)

परंतु आज के समालोचक का यह मत केवल सामयिक नवसर्जन-मनोवृत्ति का परिणाम है। इस युग में सबको सब समय कुछ नया गढ़ने का पागलपन ग्रास किए हुए हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में इस मनोवृत्ति ने प्रतिभा को कारीगरी के सामने गौण बना दिया है। सही बात, जैसा कि चंद्रगुप्त विद्यालंकारजी ने कहा है, यह है कि प्रतिभा नई-नई कारीगरियों को जन्म देती है; वह सदा प्रधान रहेगी।

उपन्यास हो या कहानी, उसकी आलोचना करते समय हम एक बात भूल नहीं सकते। वह यह कि उपन्यास या कहानी, और कुछ हो या न हो, एक कहानी या कथा ज़रूर है। कहानी या कथा में जो बातें आवश्यक हैं वे उनमें अवश्य होनी चाहिए। कोई उपन्यास (या छोटी कहानी) सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनाई है या नहीं–अनावश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है, जहाँ-तहाँ कहानी अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ उसने उसे उचित रीति से सम्हाला है या नहीं छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आयी हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिससे पाठक का जी ही ऊब जाय, और सौ बात की एक बात यह कि वह शुरू से अंत तक सुनने वाले की उत्सुकता जाग्रत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा। कहानीपन इस साहित्य की प्रथम शर्त है।

सभी कहानी नहीं कह सकते, कुछ लोगों को यह गुण विधाता की ओर से मिला होता है। असल में वे ही लोग अच्छे उपन्यास-लेखक हो सकते हैं जो कहानीपन के जानकार हैं और शुरू से अंत तक श्रोता की उत्सुकता बनाए रखने की कला के उस्ताद हैं।

कोई भी कहानी हो – यहाँ 'कहानी' नामक साहित्यिक रचना से मतलब नहीं है, बल्कि लोकप्रचलित मामूली अर्थ में व्यवहार हो रहा है; – उसमें छह बातें ज़रूरी हैं :

(1) वह कुछ प्राणियों को जीवन की घटना होती है; (2) इन लोगों का संबंध कुछ घटनाओं या व्यापारों से रहता है; (3) जिनके जीवन की कथा सुनाई जा रही है वे आपस में, और कभी खुद अपने से भी, बातचीत ज़रूर करते हैं, (4) कथा की घटना किसी-न-किसी स्थान और किसी-न-किसी काल में ज़रूर घटती है; (5) फिर कहने वाले का अपना कोई-न-काई ढंग ज़रूर रहता है। कोई भी कहानी हो ये पाँच बातें उसमे रहती हैं, यह तय है।

एक छठी बात भी है जो आजकल उपन्यास में प्रधान हो उठी है। पुराने ज़माने में सब समय इसका रहना ज़रूरी नहीं समझा जाता था। यह (6) छठी बात है उद्देश्य। उपन्यास में ये छः बाते रहती हैं। शास्त्रीय भाषा में इन्हें क्रमशः – (1) पात्र, (2) कथा-वस्तु, (3) कथोपकथन, (4) देश-काल, (5) शैली और (6) उद्देश्य कहते हैं।

उपन्यास के इन छह तत्वों में से कभी-कभी एक या दो तत्व प्रधान हो जाते हैं। उनकी प्रधानता के अनुसार उपन्यासों के भिन्न-भिन्न भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जिन उपन्यासों में पात्रों की प्रधानता होती हैं वे चरित्रप्रधान और जिनमें घटना की प्रधानता होती है उन्हे घटनाप्रधान उपन्यास कहते हैं। अन्यान्य बातों की प्रधानता भी उनके नाम पर ही प्रसिद्ध होती है। यदि हम इन तत्वों पर ध्यान देकर विचार करें तो मालूम होगा कि घटना इन सबमें स्थूल वस्तु है और उद्देश्य सबसे सूक्ष्म। इन बातों का अलग-अलग सुंदर निर्वाह उपन्यासकार का आवश्यक गुण है परंतु इन सबके

सामंजस्य से ही उपन्यास की कथा मनोहर होती है। इनके उचित सन्निवेश से ही उपन्यास का रसास्वाद सुकर होता है।

कथा-वस्तु का ठोस और सुसबद्ध होना परम आवश्यक है। कथा की जाति को अग्रसर करने के लिए और उसके पात्रों की मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जितना आवश्यक है उससे कुछ भी अधिक होने से घटनागत औचित्य नष्ट हो जाता है। उद्देश्य-विशेष की सिद्धि के लिए लेखक कभी-कभी ऐसी घटनाओं की योजना करता है जो कथा-वस्तु के ठोसपन की दृष्टि से एकदम अनावश्यक और अप्रासंगिक होती है। 'प्रेमाश्रम' में सनातन धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन कोई बहुत आवश्यक नही था, वह तो सिर्फ ज़मीदारी-प्रथा की कलंक-रेखा को और भी गाढ़ बना देने के उद्देश्य से लिखा गया था। उसके निकाल देने से मूलकथा का कोई विशेष नुकसान नहीं होता। परंतु लेखक को ज़मींदारी-प्रथा और वकालत के पेशे को बुरा सिद्ध करने का मोह था और वे इन लम्बे प्रसंगों को छोड़ नहीं सके।

मूलकथा को उज्ज्वल रूप में प्रत्यक्ष कराने के लिए कभी-कभी ग्रंथकार अवांतर घटनाओं की सृष्टि करता है। वे अवांतर घटनाएँ दो प्रकार से मूलकथा को उज्ज्वल और गतिशील बनाती है (1) सहायक के रूप में या (2) विरोधी के रूप में। सुग्रीव और बालि का झगड़ा रामायण की मूल-कथा को अग्रसर करने में सहायक है, परंतु 'गोदान' में होरी की कहानी के साथ रायसाहब आदि उच्चतर वर्ग के लोगों का जो समानांतर घटना-प्रवाह चलाया गया है, वह इसलिए कि किसान के जीवन को उसके एकदम प्रतिकूल जीवन की पृष्ठभूमि में रख कर और भी उज्ज्वल रूप में दिखाया जा सके।

घटनाग्रत औचित्य क' तक़ाजा है कि अवांतर घटनाएँ इस प्रकार मूल घटना के साथ बुन दी जाएँ कि पाठक को कहीं भी संदेह न होने पावे कि वह दूसरी कथा भी पढ़ रहा है। 'रंगभूमि' एक तरफ सूरदास आदि ग्रामीण पात्रों की कहानी है और दूसरी तरफ़ राजे और रईसों की। परंतु लेखक ने बड़ी मुस्तैदी से दोनों कथा-वस्तुओं को एक-दूसरे से उलझा दिया है। 'गोदान' की कथा-वस्तुओं में इतनी सफाई नहीं है। इस प्रकार यद्यपि उद्देश्य की सिद्धि के

लिए लेखक को बहुत-कुछ करने का साधन और अधिकार प्राप्त है, परंतु घटनागत औचित्य का निर्वाह भी कम जवाबदेही का काम नहीं है।

औचित्य उपन्यास की जान है। औचित्य का अभाव सर्वत्र खटकता है, पर उपन्यास में उसका अभाव तो बहुत अधिक खटकने वाला होता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में, उनकी बातचीत में, उनके वस्त्रांलकारों के वर्णन में, उनके प्रीति-नीति के उपस्थापन में सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है। सर्वत्र यह आवश्यक है कि उपन्यासकार पूरी ईमानदारी और सच्चाई से काम ले। इन सब बातों में देश, काल और पात्र के ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाला लेखक उस काल के वातावरण से बँधा होता है। वह कोई भी ऐसी बात अगर लिख दे, जो उस ज़माने में संभव नहीं थी तो बात खटक जाएगी और सहृदय पाठक के रसास्वाद में बाधा उपस्थित होगी।

एक प्रसिद्ध उपन्यासकार ने पठानकाल की एक घटना को आश्रय करके उपन्यास लिखा है। उसमें अमरूद के पेड़ों का वर्णन है। यह बात काल-विरुद्ध है; क्योंकि अमरूद का पेड़ पोर्तुगीज़ों का ले आया हुआ है। उनसे पहले वह इस देश में था ही नहीं। उपन्यास का एक पात्र खाट पर लेटे-लेटे पुस्तक पढ़ता है, यह भी काल-विरुद्ध बात है। उन दिनों न तो छापे के कल के कारण आधुनिक ढंग के उपन्यास ही थे, न पुट्ठोंवाली पुस्तकें ही थीं, और न लेटे-लेटे पढ़ने की प्रथा ही थी। उन दिनों खुले पत्रों की पुस्तकों का ही प्रचलन अधिक था। इसी प्रकार देश-विरुद्ध बातें भी खटकने वाली होती हैं।

एक लेखक ने उत्तर-भारत के नगरोद्यान के वर्णन-प्रसंग में वसंत ऋतु में शेफालिका-पुष्पों का वर्णन किया है। दक्षिण-भारत में तो, सुना है, वसंत में शेफालिका खिलती है, पर उत्तर-भारत में यह बात साधारणतः नहीं दिखती। पात्रगत औचित्य के निर्वाह में प्रायः प्रमोद का परिचय पाया जाता है। कभी-कभी बड़े-बड़े सम्राटों के मुँह से एसी बातें कहलवाई जाती हैं जो न उनके पद-मर्यादा के उपयुक्त होती हैं, और न चरित्र-विकास के। इस औचित्य-निवाह के लिए परम आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक अपने देश और काल का पूरा जानकार हो, और पात्रों के चरित्र-विकास को समझने वाला हो। वह

जो कुछ कहे, उसका देखा-जाँचा और अनुभव किया हुआ हो। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की ईमानदारी की भी यही कसौटी है।

कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक प्राचीन काल की बातों को स्वयं कैसे देख सकता है? उत्तर यह है कि ऐतिहासिक लेखक का वक्तव्य इतिहास की उत्तम जानकारी तथा उस युग की प्रामाणिक पुस्तकों, मुद्राओं और शिला-लेखों के आधार पर जाँची हुई होनी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक मृत घटनाओं और अर्द्धज्ञान या नाम मात्र से परिचित व्यक्तियों के कंकाल में प्राण-संचार करता है। कल्पना उसका प्रधान अस्त्र है। पर उस कल्पना के साथ उसकी जानकारी का सामंजस्य होना चाहिए। अगर उसके कल्पना के पोषक प्रामाणिक नहीं हुए तो रसास्वाद में पद-पद पर बाधा पहुँचेगी। इस प्रकार विषयगत औचित्य और विषयिगत ईमानदारी उपन्यास की जान है। ये ही लेखक पर पाठक का विश्वास स्थिर करते हैं। जो उपन्यास-लेखक पाठक का विश्वास नहीं अर्जन कर सकता वह कभी सफल नहीं हो सकता।

लेखक की ईमानदारी का एक उत्तम उदाहरण सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों के स्त्री-पात्र हैं। इनकी कहानियाँ – बहुओं विशेष कर शिक्षित बहुओं – के दुखःपूर्ण जीवन को लेकर लिखी गई हैं। उन्होंने किताबी ज्ञान के आधार पर या सुनी-सुनाई बातों का आश्रय करके कहानियाँ नहीं लिखीं, बल्कि अपने अनुभवों को ही कहानी के रूप में रूपांतरित कर दिया है। यही कारण है कि उनके स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण अत्यंत मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है। उनसे परिचय पाकर हम सजीव प्राणियों के संसर्ग में आते हैं, जो अपने जीवन के उन पहलुओं से हमारा परिचय कराते हैं, जिन्हें हम बहुत कम जानते हैं। उस ईमानदारी के कारण ही उनके पात्र इतने प्रभावशाली हो सके हैं।

उपन्यासकार के पात्रों की सजीवता और स्वाभाविकता सदा अपेक्षित है। पाठकों को उनके संसर्ग में आते समय यह विश्वास बना रहना चाहिए कि वे सत्य हैं, कपोल-कल्पित नहीं। प्रेमचंद को "कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में" विश्वास नहीं था। उन्होंने लिखा है कि इन गढ़े हुए पात्रों के कार्यों और

विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है, या अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है। इसीलिए कुछ समालोचकों ने साहित्य को लेखक का जीवन-चरित्र कहा है। आजकल का लेखक कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी जिसमें सजीवता हो; वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौक़े पर इस प्रकार आचरण करें जैसे रक्त-माँस का मनुष्य करता है।

पात्रों का चारित्रिक विकास स्वाभाविक होना चाहिए। साधारणतः दो तरह से उपन्यास-लेखक अपने पात्रों के चरित्र का विकास करता है – (1) घटनाओं से टक्कर खिलाकर और (2) पात्र के भीतर के स्वाभाविक अंकुर के विशेष गुण को निमित्त बना कर। प्रथम को बाह्य उपकरणमूलक विकास कहते हैं और दूसरे को आंतरिक उपकरणमूलक। दूसरे प्रकार का विकास ही स्वाभाविक और हृदयग्राही होता है। घटिया श्रेणी के लेखक प्रायः इस विषय में असफल सिद्ध होते हैं। उपन्यास का नायक ही जब समस्त घटनाओं में योग स्थापित कर रहा हो और उन घटनाओं का आपस में कोई संबंध न हो तो ऐसे कथानक को शिथिल कथानक कहते हैं, परंतु यदि घटनाएँ जीवंत रूप में एक दूसरे से गुँथी हों तो उस कथानक को संग्रथित कहते हैं।

कुछ उपन्यासकार आत्म-कथा की शैली पर उपन्यास लिखते हैं, कुछ डायरी के रूप में, कुछ चिट्ठियों के रूप में, कुछ बातचीत के रूप में और कुछ पूर्वापर रूप में कहानी को कह जाने के रूप में। सर्वत्र औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। आत्म-कथा या डायरी के रूप में लिखने वाले पर केवल नायक की जानी हुई बातों के सहारे उपन्यास गत औत्सुक्य बनाए रखने तथा रस-परिपाक कराने की जिम्मेदारी होती है। उसे क़था-प्रवाह के बढ़ाव के लिए बड़ी सावधानी से ऐसी नई-नई घटनाओं का उल्लेख करना पड़ता है, जो पाठक की जानकारी में संभव हो। चिट्ठियों और बातचीत के रूप में लिख गए उपन्यासों में लेखक को कुछ अधिक सुविधा प्राप्त होती है, पर

बंधन वहाँ भी होता है। सबसे सहज शैली है उपन्यासकार का सर्वज्ञ बन जाना। दुनिया के बड़े-बड़े उपन्यासकारों ने अधिकतर इसी शैली को अपनाया है। उपन्यासकार वहाँ सब जानता है – पात्र के भीतर क्या घट रहा है, उसके संपर्क में आने वाले क्या और कितना समझ रहे हैं, बाहर क्या घट रहा है इत्यादि सभी बातें उसे मालूम होती है। परंतु सर्वज्ञता की जवाबदेही के कारण उसका कार्य बड़ा कठिन होता है। जो शैली सबसे सहज है उसमें औचित्य का निर्वाह सबसे कठिन है।

अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए लेखक सारी घटनाओं का सन्निवेश करता है, पात्रों के चरित्रों को अभीष्ट दिशा में विकसित होनो देता हैं, उनमें बातचीत कराता है और शैली-विशेष का आश्रय लेता है। कभी-कभी वह जिस उद्देश्य को लेकर लिखने बैठता है, अंत तक सिद्ध नहीं होता। 'प्रेमाश्रम' में लेखक का उद्देश्य प्रेम और भ्रातृ-भाव के महान् आदर्श का अंकित करना जान पड़ता है। ग्रंथकार ने इसी उद्देश्य से कहानी का भित्ति-स्थापन किया था और चरित्रों की योजना की थी, पर अंत तक जाकर यह उद्देश्य दब गया है और एक दूसरा प्रतिपाद्य प्रबल हो गया है। यह दूसरा उद्देश्य है ज़मींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता। लेखक का भावात्मक आदर्श गौण हो गया है और भावात्मक आदर्श प्रधान।

उपन्यास के भिन्न-भिन्न तत्वों का अलग-अलग और मिलाकर भी किया हुआ सूक्ष्म चित्रण और सफलतापूर्वक निर्वाह ही उपन्यास को बड़ा नहीं बना देता, बड़ा बनाती है उद्देश्य की महत्ता और उसकी सफल सिद्धि। सब तत्व मिलकर पाठक के ऊपर जिस प्रभाव की सृष्टि करते हैं उस प्रभाव के माप पर ही उपन्यास का महत्व निर्भर है। घटना, पात्र, कथोपकथन और शैली आदि का सफल निर्वाह उस प्रभाव की अपेक्षा में ही उत्तम हो सकता है। कई उपन्यास-लेखकों की कृतियों में इन तत्वों का जोरदार सन्निवेश है, फिर भी उनसे पाठक के चित्त पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वे मानव-जीवन की सड़ान और गंदगी को मोहक बनाकर रखते हैं और इस प्रकार पाठक को एक प्रकार की गंदी शराब पिलाकर मोहग्रस्त कर देते हैं। यह वस्तु कभी बड़ी नहीं हो सकती। भोजन की उत्तमता की कसौटी केवल परिपाक, सुगंधि और

द्रव्यों का सन्निवेश मात्र नहीं है, और न खूब सुस्वादु होना ही उसकी कसौटी है। भोजन अच्छा वह है, जो इन सारे गुणों के साथ-ही-साथ मनुष्य को स्वस्थ और सबल बनाए। जो भोजन परिणाम में मोहग्रस्त कर देता है या रोगी बना देता है या मृत्यु का शिकार बना देता है, उसे अच्छा भोजन नहीं कह सकते। बुरे प्रभाव वाला उपन्यास भी ऐसा ही है। मानव-जीवन की गंदगियों को मोहक और आकर्षक करके चित्रण करने वाले उपन्यास विषाक्त भोजन के समान घातक हैं। सुप्रसिद्ध पत्रकार पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने ऐसे उपन्यासों को 'घासलेटी साहित्य' नाम दे रखा है।

प्रश्न हो सकता है उद्देश्य की महत्ता की परख क्या है? मनुष्य का चरित्र जिस रूप में आज परिणत हुआ है उसके कई कारण हैं। नाना मनीषियों ने इसे नाना रूप में समझने-समझाने की चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोण का समर्थन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक पूर्ववर्ती दृष्टिकोण से उसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित कर ली जाय। इस प्रकार पूर्वमत को निरास करके नये मत के स्थापित करने का नियम है। उपन्यास-लेखक दार्शनिक पंडित के इस नियम को नहीं मानता; पर जीवन के प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे कौशलपूर्ण ढंग से स्थापित करते समय उस विशेष दृष्टिकोण के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा कर देता है जो उसका अभिप्रेत नहीं है। इस कार्य को वह बड़ी सावधानी से करता है। हिंदी में प्रेमचंद जी इस कला के उस्ताद थे। उनकी कहानियों में जीवन को समझने की अनेक दृष्टियाँ मिलेंगी। अपने जीवन में उन्होंने मानव-जीवन को समझने के लिए दृष्टिकोण बदले भी हैं पर पुरानी दृष्टि-भंगियों की गलती दिखाने के बाद ही। 'कफ़न' नामक कहानी इस बात का एक उत्तम उदाहरण है। उसके पढ़ने से जीवन की व्याख्या करने वाले अनेक मत निस्सार प्रतीत होते हैं। जान पड़ता है कि लेखक ने उन व्याख्याओं को सामने रखकर ही कहानी लिखी है।

धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान संसार को एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था में रखने के लिए सदा प्रयत्नशील हैं। जो कोई भी जीव, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है, वह उसी रूप में वहाँ आने को बाध्य था। सब-कुछ किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा पूर्वनिर्णित है – पाप और पुण्य, धर्म और कर्म,

ऊँच और नीच – सब। दूसरी एक व्याख्या एक प्रकार के नास्तिकों की है। प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित टेन इस मत का पोषक बताया जाता है। जो कुछ भी, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है वह तीन कारणों से हुआ है – जातिगत विशेषता के कारण, भौगोलिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण, और ऐतिहासिक परंपरा के भीतर से आने के कारण। इन तीनों बातों को अलग-अलग एकमात्र कारण मानकर भी जीवन की व्याख्याएँ की गयी हैं। एक प्रकार के पंडित हैं जो स्वीकार करते हैं कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार और दर्शन-काव्य के मूल में है। एक दूसरे पंडित समस्त सद्‌गुणों और असद्‌गुणों के कारण आर्थिक परिस्थितियों में खोजते हैं। उनके मत से आर्थिक सुविधा या असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृंखला के वास्तविक मूल हैं। 'कफ़न' में इस दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति उसमें कौशलपूर्ण प्रतिवाद के भाव हैं। आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता इस कहानी में कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यवर्ग की बहु-विघोषित करुणा और प्रेम की कोमल भावनाओं का कोमलपन अत्यंत खोखला होकर प्रकट हुआ है।

उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसे समझता है और वहीं से अपनी विशेष दृष्टि पाता है, यदि कोई लेखक केवल परंपरागत रूढ़ियों को – सत् और असत् की निर्धारित सीमाओं को – बिना विचारे ही उपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नहीं दे सकता। उसे हमेशा जटिलताओं को चीरकर भीतर देखने का व्रत लेना पड़ता है। ऐसा करने के बाद यदि वह रूढ़ियों को ही सत्य समझे तो कोई हर्ज़ नहीं, परंतु सचाई उसकी अपनी आँखों देखी होनी चाहिए। इसके बिना वह बड़ी कृति नहीं पैदा कर सकता। साधारण पाठक भी इस कसौटी पर उपन्यास-लेखक के उद्देश्य से और जीवन के प्रति उसकी विशेष दृष्टि-भंगी की महत्ता समझ सकता है।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सभी लेखक अपनी तरफ़ से काट-छाँट और कमी-बेशी करके मानव-चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। बात यह है कि

कोई कितना ही ब्यौरेवार जीवन को उपस्थित करने का यत्न क्यों न करे, उसे बहुत-सी बातें छोड़नी ही पड़ेंगी। किसी आदमी के जीवन में एक दिन में जितने प्रयत्न और चेष्टाएँ होती हैं उनको लिपि-बद्ध करने से पोथा तैयार हो सकता है। इसलिए लेखक अपने विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए और कथा को प्रवाहशील तथा मनोरंजक बनाए रखने लिए जितना भी आवश्यक है, उतना ही अंश लिपिबद्ध करता है, बाकी जो तुच्छ है, अनायास-ग्राह्य हैं, जो उबा देने वाली हैं, और जो अनावश्यक हैं, उन्हें छोड़ देता है। प्रश्न किया गया है कि क्या ऐसा करने का उसे अधिकार है?

एक श्रेणी के साहित्यिक हैं जो चरित्रों में काट-छाँट और सजाव-बनाब को दोष समझते हैं। ये लोग यथार्थवादी कहलाते हैं। ये लोग मानव-चरित्र को उसके नग्नरूप में – अर्थात् उसे बनाए-सजाए बिना – जैसा है वैसा ही रूप रख देने के पक्षपाती हैं। उनके चरित्रों का प्रभाव पाठक पर बुरा पड़ेगा या भला इसकी वे परवाह नहीं करते। उनके चरित्र अपने जीवन की कमज़ोरियाँ और मज़बूतियाँ, दोष और गुण, अमृत और विष दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। संसार में स्पष्ट दीखता है कि सब समय सत्कर्मों का फल शुभ ही नहीं होता और असत् कर्मों का फल अशुभ ही नहीं होता, इसलिए इन यथार्थवादी साहित्यकों के चरित्र अच्छा काम करके भी ठोकरें खाते रहते हैं, और अपमानित-लांछित होते रहते हैं। अपने अनुभवों के बल पर यथार्थवादी ने देखा है कि संसार में बुरे चरित्रों ही की अधिकता है और अच्छे-से-अच्छे समझे जाने वाले चरित्र में भी दाग होता है। इसलिए यथार्थवाद मनुष्य के चरित्र को उसके नग्न रूप में उपस्थित करता है। प्रेमचंद ने यथार्थवादी के इन गुणों को ध्यान मे रखकर यह निष्कर्ष निकाला था कि यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। वह हमारी विषमताओं और खामियों का नंगा प्रदर्शन है। वह मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठा देता है और पाठक को ऐसा बना देता है कि उसके चारों और बुराई-ही-बुराई दिखाई देने लगती है। परंतु उन्हें भी इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा को दिखाने के लिए यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने के लिए अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे

कहीं काला दिखाएँ, जितना कि वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं के चित्रण में शिष्टता की सीमा लाँघ जाता है, तब आपत्तिजनक हो जाता है।

दूसरा दल आदर्शवादी कहलाता है। वह ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना पसंद करता है जो दुनिया की कमजोरियों से ऊपर होते हैं, जो प्रलोभनों से डिगते नहीं और जिनकी सरलता दुनियादारी और कूट-बुद्धि से हारकर भी पाठक को उन्नत बनाती है। आदर्शवादी यह नहीं मानता कि मनुष्य में छोटा अहंभाव है, जो उसे आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य प्रवृत्तियों की गुलामी करने को ही प्रोत्साहित करता है, या जो सारी दुनिया को वंचित करे अपने को समृद्ध बनाने में रंग पाता है वही वास्तव या यथार्थ है। उसके मत से मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व उसका आत्मत्याग है, सत्यनिष्ठा है, कर्त्तव्य-परायणता है, और इसी को वह बड़ा करके चित्रित करता है। वह कठिन-से-कठिन कष्ट की हालत में भी अपने आदर्श पात्र के चेहरे पर शिकन नहीं पड़ने देता।

यथार्थवाद के साथ रोमांस की भी तुलना की जाती है। 'रोमांस' शब्द अंग्रेज़ी का है। साहित्य में इसका प्रयोग दीर्घकाल से होता रहा है, इसलिए इस शब्द से जो कुछ समझा जाता है उसमें बहुत परिवर्तन भी होता रहा है। साधारणतः रोमांस उन साहस और प्रेम-मूलक कथाओ को कहा जाता है जो भारतीय साहित्य के गद्यकाव्य की श्रेणी में आते हैं। यही कारण है कि अंग्रेज़ पंडितों ने 'कादंबरी' दशकुमार-चरित' आदि को भारतीय रोमांस कहा है। रोमांस में कल्पना का प्राबल्य होता है और उसमें एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाता है, जो इस वास्तविक दुनिया की जटिलताओं से मुक्त रहता है पर जहाँ मनुष्य के मनोराग वैसे ही होते हैं जो इस दुनिया के होते हैं।

वस्तुतः रोमांस का वातावरण काव्यमय होता है और उसमें कल्पना और भावावेग का प्राधान्य होता है। यथार्थवाद के यह ठीक विरुद्ध दिशा में जाता है। आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का अंतर उद्देश्यगत है, परंतु रोमांस के साथ उसका विरोध प्रकृति-गत है। किसी पश्चिमी पंडित ने रोमांस के मूल में जो सत्य है उसकी तुलना काव्यगत सत्य से की है। यथार्थवाद तथ्य-जगत् के बाहर की चिंता नहीं करता। रोमांस मनुष्य के चित्त की उस वास्तविक

मनोवाञ्छा से उत्पन्न है जो चिरंतन है और सत्य है। काव्यगत सत्य ही रोमांस का भी सत्य है, क्योंकि रोमांस वस्तुतः गद्यकाव्य है।

भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास मे एक समय आया है जब रोमांस की मनोवृत्ति प्रबल रूप में प्रकट हुई थी–

सातवीं-आठवीं शताब्दी से इस देश में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। इन्हीं दिनो इरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। इस काल में उत्तर-पश्चिम सीमांत से बहुत-सी जातियों का प्रवेश इस देश में होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नए-नए काव्य-रूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। संभवतः ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने का चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परंतु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही इसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जल-क्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति – ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। बाद में क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और संभावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, उनसे युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि संभावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे। यह तथ्य अनेक विवाहों की संभावना उत्पन्न करता है, जलक्रीड़ा, और वन-विहार की संभावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान के लिए संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश की साहित्यिक परंपरा में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है – जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि – और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है – जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का – फैक्ट्स और फिक्सन का – अद्‌भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य *और सौभाग्य की अद्‌भुत-शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभंडार होने में* दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। फिर भी निजंधरी कथाओं से इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था, कभी-कभी मात्रा में कमी-बेशी तो हुआ करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजंधरी कथाएँ अपने-आप में ही परिपूर्ण होती थीं।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दुःख-परक विरोधों को उकसावे, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धांततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करें, दुःखोद्रेचक विषम परिस्थितियों – ट्रेजिक कंट्रेडिक्शंस – की सृष्टि करें; परंतु वास्तव जीवन में ऐसी बातें (होती ही रहती हैं। इसलिए इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें) आएँगी। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है; परंतु वास्तविक जीवन के कर्तव्य-द्वंद्व, आत्म-विरोध और आत्म-प्रतिरोध जैसी बातें उसमे नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथा-नायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर, जीवन में कभी हास्योद्रेचक अनमिल स्वर भी मिल

जाते हैं। संस्कृत-काव्य का कर्त्ता कुछ अधिक गंभीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता जहाँ कथा-नायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है जिसमें नायक का कर्तव्य उचित रूप में प्रतिभासित हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजंधरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नही पा सकते – इतिहास, जो जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नए-नए दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्‌घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजंधरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ कथानक रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलक्षित दिशा में मोड़ देने के लिए दीर्घकाल से प्रचलित हैं। इनसे कथानक में सरसता आती है और घटना-प्रवाह में एक प्रकार की लोच आ जाती है।

उपन्यासकार परिस्थितियों के सच्चे चित्रण से विमुख नहीं हो सकता, परंतु उसका उद्देश्य केवल फोटोग्राफी नहीं है, वह कलाकार है। यथार्थवाद चित्र का सिर्फ एक पहलू है। केवल सच्चा जीवन-चित्रण भी अपना नैतिक संदेश रखता ही है। परंतु सच्चा चित्रण होना चाहिए। बहुत से लेखक यथार्थवाद के नाम पर समाज की उन गंदगियों का ही चित्रण करते हैं जो समग्र रूप का एक नगण्य अंशमात्र है। यह यथार्थवाद नहीं हो सकता। यथार्थवाद भले की उपेक्षा करके बुरे के चित्रण को नहीं कहा जा सकता, फिर वह चित्रण कितना भी यथार्थ क्यों न हो। इसी प्रकार उस चीज़ को आदर्शवाद नहीं कह सकते जो केवल रूढ़ि-समर्पित सदाचार के उपदेश का नामांतर है। उपन्यासकार का व्यक्तिगत उद्देश्य और मतवाद ठोस तथ्यों पर आधारित होता हे। उसका प्रचारित नैतिक संदेश इन तथ्यों से विच्छिन्न होकर कला के ऊँचे सिंहासन से च्युत हो जाता है। जिस प्रकार समग्र रूप से विच्छिन्न बुराइयाँ अपना मूल्य खो देती हैं, उसी प्रकार समग्र से विच्छिन्न भले-भले

उपदेश भी फीके हो जाते हैं। उपन्यास का उपदेश भी काव्य के अर्थ की भाँति व्यंग्य होना चाहिए। वाच्य होने से उसका मूल्य कम हो जाता है। इसीलिए प्रेमचंद जी ने कहा है कि अच्छा उपन्यास वह है जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का उचित समन्वय हो।

केवल यथार्थ चित्रण उपन्यास या कहानी को महान् नहीं बनाता। हिंदी की एक प्रसिद्ध कवियित्री की कहानियाँ हमने पढ़ी हैं। उन कहानियों के स्त्री-पात्र बड़े ही सच्चे और संजीव थे। इन पात्रों से परिचय पाने के बाद मनुष्य बहुत-कुछ सोचने-समझने का अवसर पाता है। परंतु फिर भी उनकी कहानियों में समाज के प्रति सिर्फ एक नकारात्मक घृणा का भाव ही स्पष्ट हुआ है। पाठक यह तो सोचता है कि समाज किस प्रकार स्त्रियों पर – विशेष कर शिक्षित बहुओं पर – निर्दयता का व्यवहार कर रहा है, परंतु उनके चरित्रों में कहीं भी वह भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नहीं पाई जाती, जो समाज की इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर सके। कहीं भी वह मानसिक दृढ़ता नहीं पाई जाती, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दुःख पाने वाले को विजयी बना सके, जो स्वेच्छापूर्वक समाज की बलिवेदी पर बलिदान होने की प्रतिवाद कर सके। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यंत निरुपाय-से होकर समाज की अग्नि-शिखा में अपने-आपको होम देते हैं, और चुपके से दुनिया की आँखों से ओझल हो जाते हैं।

सवाल यह नहीं है कि सचमुच ही ऐसा होता है या नहीं। सचमुच ही होता होगा। किंतु सचमुच का बहुत कुछ होना ही बड़ी बात नहीं है। एक जहाज तूफान में उलझता है। भयंकर संघर्ष के बाद डूब जाता है। हजारों आदमी 'हाय-हाय' करते हुए समुद्र के गर्भ में बैठ जाते हैं। इन मरने वालों में जहाज का वह वीर कप्तान भी है जो अंतिम क्षण तक अदम्य आशा और उत्साह लेकर अपनी सारी विद्या और बुद्धि के बल पर तूफान से जूझता रहा है और निरुपाय यात्रियों को बचा लेने के लिए जान लड़ाता रहा। मरना कप्तान का भी सही है, और 'हाय-तोबा' मचाने वाले हजारों भीरु यात्रियों का भी सही है। दोनों सचमुच ही हुए हैं और दोनो ही यथार्थ है। परंतु एक यथार्थ मनुष्य में आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरुता।

कोई भी लेखक जब दुनिया के लाख-लाख मनुष्यों में से किसी एक को चुनकर अपने ग्रंथ का नायक बनाता है तो वह चुनता ही है। चुनाव तो उसे करना पड़ेगा। तो फिर क्यों न ऐसे यथार्थ चरित्र चुने जाएँ जो यथार्थ में मनुष्य हो, मनुष्य का खाल ओढ़े हुए कीड़े-मकोड़े नहीं?

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दुनिया के दुःख और अवसाद से आँख मूँद ली जाय। आँख मूँदने वाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता। परंतु लेखक से यह आशा करना बिल्कुल असंगत नहीं है कि वह दुःख, अवसाद और कष्टों के भीतर से उस मनुष्य की सृष्टि करे जो पशुओं से विशेष है, जो परिस्थितियों से जूझकर ही अपना रास्ता साफ़ करता आया है, जो सत्य और कर्तव्य-निष्ठा के लिए किसी की स्तुति या निंदा की बिल्कुल परवाह नहीं करता। इन्हीं बातों से उपन्यास बड़ा होता है, काव्य महान होता है, कहानी सफल कही जाती है।

ऐसा करना असंभव नहीं है। शिवरानी देवी की कहानियों को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। 'आँसू की दो बूँदे' नामक कहानी इस विषय में पहले बतायी हुयी कहानियों के विरोध में रखी जा सकती है। इस कहानी में सुरेश नामक युवक की बेवफाई कनक नामक लड़की के सर्वनाश का कारण नहीं हो जाती। कनक अपने लिए रास्ता खोज लेती है। यह रास्ता सेवा का है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता – अर्थात् उसमें लोभ की जगह विराग, क्रोध के स्थान पर भय और आश्चर्य की जगह संदेह, सामाजिकता के बदले एकांत-निष्ठा और संगमेच्छा की जगह व्रीड़ा का उदय होता तो वह भी शायद आत्मघात कर लेती।

मनोविज्ञान के पंडित मनुष्य के दो प्रकार के चरित्रों की बात बताते हैं, – नकारात्मक या 'नेगेटिव' और धनात्मक या 'पॉज़िटिव' लोभ, क्रोध, आश्चर्य, सामाजिकता और संगमेच्छा धनात्मक गुण हैं और इनके स्थानों में क्रमशः विराग, भय, संदेह, एकान्तनिष्ठा और व्रीड़ा नकारात्मक। पहले विश्वास किया जाता था कि स्त्रियों में नकारात्मक गुण अधिक होते हैं और पुरुषों में धनात्मक गुण। आधुनिक काल के प्रयोगों से इस विश्वास को बहुत अधिक ज़ोर देने योग्य नहीं समझा जा **सकता। ऐसा माना** जाने लगा है

कि प्रत्येक मनुष्य में इन दोनों प्रकार के गुणों का मिश्रण होता है। जिसमें धनात्मक गुण अधिक होते हैं उसी का चरित्र आशा और विश्वास का संचार कराता है।

वस्तुतः कोई भी लेखक एक व्यक्ति में केवल एक ही प्रकार के गुण दिखाकर आज के युग में पाठक का विश्वास-पात्र नहीं बना रह सकता, क्योंकि मनुष्य-चरित्र दोनों का मिश्रण है। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में यह बात सिद्ध हुई है कि कमज़ोर-चरित्र का आदमी जिस प्रकार के बलिष्ठ-चरित्र के संसर्ग में आता है उसी प्रकार का हो जाता है। उपन्यास के 'जीवन्त और बलिष्ठ पात्र पाठकों के सहचर हैं। नाना विपत्तियों और कष्टों के भीतर से गुज़रती हुई उनकी कर्तव्य-निष्ठा और सच्चा मनुष्यत्व पाठक को बल देता है, परंतु उनकी इंद्रियपरायणता, कूटबुद्धि और कुटिल कर्म पाठक को दुर्बल और निरुत्साह बना देते हैं। परिस्थितियों से आँख मूँदना आदर्शवाद नहीं है। वस्तुतः सच्चा आदर्शवादी सच्चा यथार्थवादी होता है, वह मनुष्य का मनुष्यत्व पहचानता है और प्राण-धर्म का रहस्य समझता है।

शायद यह बात सुनने में आश्चर्यजनक मालूम दे कि मानवता के सच्चे स्वरूप और प्राण-धर्म को पहचानने वाला लेखक यदि चरित्र-चित्रण में छोटी-मोटी गलतियाँ भी करे तो भी वह बड़ी कृति दे सकता है। हम शुरू से ही इस प्रसंग में 'चित्रण शब्द का व्यवहार करते आए हैं। यह शब्द चित्र बनाने की विद्या से लिया गया है; उपन्यास या कहानी के प्रसंग में इसका प्रयोग लाक्षणिक है। उपन्यास या कहानी में हमें जो मानव-जीवन प्राप्त होता है उसे हम चित्र की भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिए बार-बार साहित्य में इस शब्द का प्रयोग होता है। यदि ऊपर की बात को हम चित्र की भाषा में कहने का प्रयत्न करें तो वह कुछ इस प्रकार होगी – किसी मनुष्य के चित्र में यदि उसके हाथ-पैर ठीक-ठीक चित्रित न हों और फिर भी यदि आदमी का प्राण-धर्म ठीक-ठीक चित्रित किया जा सका हो, तो चित्र बड़ी कृति बन सकता है! ऊपर-ऊपर से यह कथन बड़ा विचित्र मालूम पड़ता है। आदमी के हाथ-पैर दुरुस्त नहीं और फिर भी वह चित्र बड़ा हो सकता है! मनुष्य का अन्यान्य जीवों से जो वैशिष्ट्य है वही मनुष्य का प्राण-धर्म है – अर्थात् उसी को

आश्रय करके मनुष्य-मनुष्य बना हुआ है। यदि वह धर्म ठीक है तो यह कोई आवश्यक नहीं कि इसके अंग-प्रत्यंग ठीक ही हों – हों तो बहुत अच्छा, न हों तो कोई बात नहीं। जायसी कुरूप थे, सूरदास अंधे थे, चौरंगीनाथ लँगड़े थे; फिर भी कौन कहेगा कि ये सिद्ध पुरुष नहीं थे?

एक चित्र के उदाहरण से समझने पर यह बात ज्यादा आसान हो जाएगी। इस विषय में हम भारतवर्ष के श्रेष्ठ शिल्पाचार्य श्री नंदलाल वसु महाशय के लेख से एक उदाहरण यहाँ संग्रह कर रहे हैं। वसु महाशय ने रवींद्रनाथ के चित्रों की आलोचना करते हुए एक बार कहा था कि उनके चित्र यथार्थ तो होते हैं पर यथार्थवादी नहीं होते। जब बहुत से पाठकों ने उनसे इस बात को स्पष्ट करने का अनुरोध किया तो उन्होंने लिखा–

'पश्चिमी देशों में चित्रणीय वस्तुओं का इतना सूक्ष्म अध्ययन हुआ कि एक शिल्प-संप्रदाय वस्तु को जैसा वह है वैसा ही दिखाने पर अड़ गया। यही यथार्थवादिता (या 'रियलिस्टिक') है। किंतु एक सिंह अंकित करने वाला चित्रकार सिंह के सभी अंगों और चेष्टाओं को अंकित करे भी–अर्थात् सिंह की बनावट के प्रति पूर्ण ईमानदार रहकर भी – एक ऐसा सिंह बना दे सकता है जिससे वह शौर्य, पराक्रम और अकुतोभय भाव नहीं आ सकता, जो सिंहत्व की जान है। उसका यह अंकित चित्र यथार्थवादी तो होगा, पर यथार्थ नहीं। दूसरी तरफ़ एक शिल्पी सिंह के अंगोपांगों के चित्रण में गलती करके भी यदि जैसी सिंह-मूर्ति बना देता है, इसे देखकर दर्शक के मन में सिंहत्व का भाव जग उठे, तो वह यथार्थवादी न हो करके भी यथार्थ सिंह अंकित कर सका है। रवींद्रनाथ इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

'औसत शिक्षित व्यक्ति को ऊपर की बात जरा अजीब लगेगी। सिंह की बनावट ठीक होने पर भी क्यों सिंह गलत हो गया और बनावट में गलती होने पर भी क्यों ठीक हो गया, यह बात ऊपर-उपर से पहेली-जैसी लगती है। इस बात को यों समझा जाए–

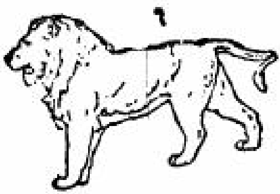

ऊपर के चित्रों में नं. 1 एक आधुनिक कलाकार का बनाया हुआ सिंह है। इसमें सभी अंग ठीक-ठीक चित्रित हुए हैं। इसलिए इसे 'रियलिस्टिक' कहा जा सकता है। चित्र नं. 2 एक बहुत पुराने असीरियन कलाकार का अंकित सिंह है। इसका अंग-विन्यास उतना यथार्थ नहीं है जितना प्रथम चित्र का है। फिर भी इसमें सिंहत्व पूर्ण-मात्रा में विद्यमान है। इस चित्र को देखने वाले के मन में सिंह-संबंधी सभी गुण जाग्रत हो जाते हैं। इसीलिए यह 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है। ऐसा यह इसलिए हुआ है कि सिंहत्व का जो छंद है वह इसमें वर्तमान है। यह 'छंद' नं. 3 के चित्र में दिखाया गया है। अनेक परिश्रम और अनुधावन के बाद कलाकारों ने इस 'छंद' का आविष्कार किया है। यही वह अरूप (Abstract) धर्म है जो वस्तु के बिना भी सत्य है। रवींद्रनाथ के चित्रों में यह धर्म वर्तमान है। वह कभी वस्तु के साथ है और कभी वस्तु से अलग। इसी 'छंद' की यथार्थता के कारण अनेक चित्र 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है।" (हिंदी 'विश्वभारती पत्रिका', खंड 1 अंक 1)

कला के क्षेत्र में यथार्थवाद किसी विशेष प्रकार की प्रकाशनभंगिमा का नाम नहीं है, बल्कि वह ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है और इसलिए नाना प्रकार के कला-रूपों को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। यह स्वयं कारण भी है

और कार्य भी है। वस्तुतः यह मनोवृत्ति उन सिद्धांतों, मान्यताओं और भावप्रवण उद्देश्यों की अनुगामिनी होती है जो अवसर के अनुकूल विविध रूपों में अपने को प्रकाशित कर सकते हैं। मुश्किल से सौंदर्य-निर्माण की कोई ऐसी आकांक्षा मिलेगी जो युक्तिसंगत परिणति तक ले जाने पर यथार्थवादी प्रवृत्ति के आसपास न पहुँच पाती हो। फिर उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियों के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते हैं, क्योंकि जीवन की यथार्थताएँ ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं। मनुष्य के पिछड़े हुए आचार-विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरंतर उत्पन्न होती रहने वाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरंतर उत्पन्न होती रहने वाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिकों से वह इस बात में भिन्न है। वे जीवन के खटकने वाले यथार्थ के संघर्षों से बच कर स्वप्न-लोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थीं, जब कि और उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खींचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आने वाला 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियंत्रित उत्पादन व्यवस्था पर काला प्रश्न-चिह्न मात्र है।

पोथी में पढ़े हुए वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गए हैं, पर वे टिक नहीं सके हैं। बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गए हैं, पर वे उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं। क्यों? क्योंकि उन्होंने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नहीं समझा और इसीलिए

उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं पा सके जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढ़ते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार-परंपरा और पुरानी मान्यताओं के व्यवधान के कारण निरंतर नए आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है।

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गए हैं। कभी भौतिक-विज्ञान ने मानव-बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और कुछ दिनों से मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास में ये तीनों अभिभूतकारी तत्व यथासमय प्रकट हुए हैं। परंतु हिंदी-उपन्यासों में यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं हुआ। जिन दिनों पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था उन दिनो हमारा उपन्यास-साहित्य आरंभ हुआ। हिंदी में ज्ञान-विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी सिद्धांत कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नहीं उठ सका, क्योंकि जब साहित्य में मनोविज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पड़ता गया और मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय खाई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धांतों द्वारा नहीं निश्चित होती थी।

हिंदी में जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नहीं थी जो इंगलैंड की, अन्य पश्चिमी देशों की थी। हिंदी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रों में आबद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नहीं थी, किंतु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। रीतिकालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धांतों के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से क्रमशः इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासों की दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर पड़ी। प्रकृतिवादी सिद्धांतों का जोर कभी भी इस देश में बढ़ नहीं पाया, क्योंकि न तो यहाँ के विचारशील लोगों मत इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का, और

उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशों में हुआ था। जिन दिनों हिंदी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धांतों से प्रभावित होने लगे, उन दिनों विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। हिंदी के प्रकृतिवादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य से प्रभावित थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही बने रहे। यही कारण है कि हिंदी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य में कभी महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नहीं प्राप्त कर सके।

साहित्य और कला के विविध क्षेत्रों में नए तत्व-ज्ञान (फिलासफी) द्वारा सुझाए गए युक्ति-तर्कों से प्रभावित अनुसंधान-पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसी बहुत-सी बातें साहित्य में प्रवेश करने लगीं, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थीं। ज्ञान अधिकाधिक अवितथ होने का प्रयत्न करता जा रहा था और गणितशास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक-विज्ञान के क्षेत्र में गणितिक पद्धतियों का प्रयोग होने लगा और उनकी देखादेखी उपन्यास-साहित्य में दलील और सनद उपस्थित करने वाली मनोवृत्ति क्रमशः शक्तिशाली होती गई।

यही साम्प्रदायिक यथार्थवाद की ओर जाने वाली मनोवृत्ति है। ऐसा यथार्थवादी साहित्यकार बाहरी दलीलों और सनदों का इस प्रकार प्रयोग करता है जिससे पाठक के ऊपर यह प्रभाव पड़े कि वह यथार्थ जीवन में घटने वाली सच्ची बात कह रहा है। परंपरा-प्रथित धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण मानव-जीवन के जो तत्व साहित्य में जुगुप्सित, और निषिद्ध और अमंगलकारी माने जाते थे, उनका साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा और यथार्थवाद के उस रूप का प्रचलन हुआ, जो मनुष्य की बाह्य प्रकृति को प्रधानता देने वाले विज्ञान से -- विशेषकर प्राणि-विज्ञान से -- प्रभावित थे।

इस प्रकार उस समय प्रकृतिवादी सिद्धांत साहित्य में गृहीत हुआ। वस्तुत प्रकृतिवादी सिद्धांत जो मनुष्य की शारीरिक भूख के विविध रूपों पर ह

आश्रित है, प्राणि-विज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा के साथ ही बढ़ा है और घटती हुई मर्यादा के साथ घटा है।

उपन्यास-लेखक कभी भी वर्तमान प्रगति से पिछड़ा रहकर सफल नहीं हो सकता। हिंदी के घासलेटी उपन्यासकार इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

कहा जाता है कि इंगलैंड में भी प्रकृतिवाद उस प्रकार का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सका, जैसा कि उसने फ्रांस में किया था। इंगलैंड की जनता अधिक रक्षण-शील (कंजर्वेटिव) थी, और वह मानव शरीर की उच्छृंखल बुभुक्षा को सहज ही नहीं बर्दाश्त कर सकती थी। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग तक इंगलैंड के साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासकार तो हुए, किंतु उल्लेख-योग्य प्रकृतिवादी उपन्यासकार नहीं हुए। भारतवर्ष में तो उनको प्रधान होने की नौबत कभी आई ही नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासकारों की भी कई श्रेणियाँ हैं। थैकरे, रीड, जार्ज इलियट, जेन आस्टिन आदि उपन्यासकारों की रचनाएँ, इस देश के उपन्यासकार बराबर पढ़ते रहे और उनकी रचनाओं से प्रेरणा पाते रहे। इसलिए हमोर देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किंतु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है – अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परंपरा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरंतर प्रयत्न – वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। आगे बढ़ा हुआ ज्ञान तो सारे संसार के लिए एक होता है, किंतु पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परंपरा विभिन्न देशों समाजों में भिन्न-भिन्न होती हैं; इसीलिए यथार्थवादी लेखक के सामने व्यवधान की मात्रा देश-विशेष और समाज-विशेष के अनुसार बदलती रहती है और उसी के अनुपात में उसके प्रयत्नों में तारतम्य आता है। दुर्भाग्य-वश अपने देश के कम लेखकों ने इस *व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है।*

इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे नए उपन्यासकार सच्चे अर्थों में यथार्थवादी नहीं हैं। वे यथार्थवाद को उसके वास्तविक अर्थ में नही ग्रहण कर सके हैं, परंतु उन पर यथार्थवाद का आतंक अवश्य है। जो लोग केवल वाद-विशेष से आतंकित हैं, या उसे फ़ैशन के रूप में ग्रहण करते हैं वे कोई अविस्मरणीय

चरित्र नहीं पैदा कर सकते और जिन सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से उपन्यास लिखे जाते हैं, उनकी अमिट छाप भी नहीं छोड़ पाते। इसीलिए इन उपन्यासों को पढ़कर कोई उल्लास नहीं होता है। आज भी प्रेमचंद हमे जहाँ छोड़ गए थे वहाँ से आगे हम नहीं बढ़ पाए। क्षेत्र तो प्रस्तुत हो ही रहा है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह औपन्यासिक हिंदी-जगत् में अवतीर्ण होगा जो जीवन के व्यापक अनुभवों के भीतर से 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस को खींच लाएगा।

कुछ लोग उपन्यासों को तीन श्रेणी का मानते हैं – घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान। स्टीवेंसन इसी मत के उपस्थापक थे। वे घटना-प्रधान उपन्यास को ही सबसे उत्तम समझते थे। उनके मत से उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी माया की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसे मोहक ढंग से उस्थित कर दे कि पाठकों की कल्पना उससे आकर्षित हुए बिना न रह सके – उपन्यास पढ़ते समय पाठक अपने को घटनाओं में तन्मय कर दे और पात्रों के साथ एकाकार कर दे, ताकि पात्रों के साहसपूर्ण कृत्यों को अपना-सा समझ कर वह उनमें रस लेने लगे।

स्टीवेंसन का यह मत सर्वांश मे ग्राह्य नहीं है, यह हम आगे चल कर समझ सकेंगे; पर इसमे संदेह नहीं कि घटनाओं का मनोरंजक सन्निवेश उपन्यासकार का बड़ा भारी गुण है।

(1) हिंदी में नाना प्रकार के घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए हैं। सबसे प्रधान और प्रथम प्रयत्न देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यास हैं, जिनमें ऐयारों के घात-प्रतिघातमूलक घटनाओं का सन्निवेश बड़ी तत्पता के साथ किया गया है। इन उपन्यासों में अद्भुत तिलस्मों का मिश्रण है, परंतु ये घटना-प्रधान उपन्यास ही है। यद्यपि ऐय्यारों के चरित्रगत गुण भी इनमें कम आकर्षक नहीं हैं, तथापि घटनाओं की प्रधानता इनमें स्पष्ट है। इसी प्रकार डकैती आदि के साहसिकतापूर्ण कथानक, जासूसी उपन्यास, प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास केवल घटनाओं के सन्निवेश से ही मोहक बने हैं। (2) हिंदी में प्रेमचंद, सुदर्शन और 'कौशिक' आदि लेखकों की कहानियाँ और

उपन्यास चरित्र-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगे, और (3) 'प्रसाद' का 'तितली' और 'कंकाल', शिवनंदन सहाय का 'सौंदर्यपासक' तथा 'हृदयेश' की कहानियाँ भाव-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगी।

जिन्हें भाव-प्रधान उपन्यास कहकर ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें बहुत कुछ पुरानी कथा-आख्यायिकाओं के गुण हैं। उनमें भाषा की मनोहारिता, अलंकार-योजना, पद-लालित्य और भावावेग इतनी अधिक मात्रा में हैं कि उन्हें गद्य-काव्य कहना ज्यादा उचित होगा। उपन्यास विशुद्ध-गद्य-युग की उपज है। उनमें भाषा की गद्यात्मकता और सहज भाव अपेक्षित है। इन उपन्यासों में वह बात नहीं है।

हिंदी के एक प्रवीण विद्वान ने उपन्यास को गद्य-काव्य का ही एक भेद माना है। किंतु यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। पुराने ज़माने के 'वासवदत्ता', दशकुमार-चरित', 'कादंबरी' आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नये यंत्र-युग की उपज हैं। नये यंत्र-युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है उन सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है। छापे के कल ने इनकी माँग बढ़ायी है और उसी ने उनकी पूर्ति का साधन बताया है।

यह ग़लत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा *आख्यायिकाओं की सीधी संतान है।* ऊपर जिन भाव-प्रधान उपन्यासों की चर्चा हुई है, उनकी रचना के मूल में संभवतः पुरानी कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श था, परंतु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया कि शब्दों में झंकार देकर गद्य-काव्य लिखना और आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखना एक ही बात है। झंकार कविता का बड़ा भारी गुण है, परंतु उपन्यास में वह थोड़ी मात्रा में ही काम देता है। चूँकि उपन्यास और कहानियाँ विशुद्ध गद्य-युग की उपज हैं, इसीलिए उनकी प्रकृति में गद्य का सहज, स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का पुराने गद्य-काव्यों से जो प्रधान अंतर है, वह आदर्शगत है। यंत्र-युग ने पश्चिम में जिस व्यावसायिक क्रांति को जन्म दिया उसके कई फलों में एक है *वैयक्तिक स्वाधीनता।* यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासों का आदर्श है और काव्य-काल का रूढ़ि-निर्धारित और परंपरा-समर्थित

सदाचार कथा-आख्यियाओं का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास होता है। इस वास्तविकता के भीतर से ही उपन्यासकार अपना आदर्श ढूँढ़ निकालता है। कथा और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर वास्तविक दुनिया से भिन्न एक नयी दुनिया बनाता है।

उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अंतर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुला कर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता, जब कि काव्य वर्तमान परिस्थिति की संपूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्तमान पर जमा रहता है। प्राचीन ऐतिहासिक कथानक की रचना के समय भी वह वर्तमान-काल की जानकारियों के बल पर ही अपना कार-बार चलाता है और जासूसी तथा वैज्ञानिक कथावस्तु को सम्हालने में भी आधुनिक जानकारियों की जहाँ तक पहुँच है, उसी के आधार पर अपनी कल्पनाओं ओर संभावनाओं की सृष्टि करता है। वह कवि की भाँति ज़माने के आगे रहने का दावा नहीं करता। काव्य दुनिया की छोटी-मोटी तुच्छताओं को भी महिमा-मंडित करके प्रकाशित करता है, जो कुछ है उसे सजा कर, सँवार कर सुंदर और महत् बनाने की साधना करता है।

वस्तुतः जहाँ कहीं भी तुच्छता को महिमा-मंडित करके प्रकाशित करने का प्रयत्न है वहाँ उपन्यासकार कवि का काम करता है। एक उदाहरण लिया जाए–

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें सर्वत्र काव्य का सुर ही प्रधान हो उठा है। उन्होंने जान-बूझकर एक उपन्यास ऐसा लिखा है जिसमें, आलोचकों का मत है कि, कवित्व को दबा कर औपन्यासिकत्व प्रधान हो उठा है। इस उपन्यास का नाम है, 'भालञ्च'। इसमें नायिका बीमार पड़ जाती है और नायक किसी और लड़की के साथ काम-काज में लग जाता है। नायिका को ईर्ष्या होती है। ज्यों-ज्यों वह मृत्यु के निकट पहुँचती जाती है त्यों-त्यों उसकी ईर्ष्या बढ़ती जाती है। अपने देवर के समझाने से वह संकल्प करती है कि मरते समय वह अपनी समस्त स्वार्थबुद्धि को तिलांजलि देकर अपने हाथों उस लड़की को पति को सौंप जाएगी। ऐसा मौक़ा आता है। उस मौक़े पर मरती-मरती यदि वह कह देती कि 'हे प्रिय, मैंने अपना

सर्वस्व तुम्हे दिया है, इस बालिका के साथ अपना मान-अभिमान सब कुछ तुम्हें निःशेष भाव से देकर विदा लेती हूँ, और प्यार से उस लड़की का हाथ पति के हाथों में रख कर दम तोड़ देती तो यह बात कवित्व का एक सुंदर उदाहरण हो जाती। पर मौक़ा आने पर वह ऐसा नहीं करती। अपनी तुच्छ ईर्ष्या को अंत तक वह अपने त्याग की महिमा से महिमा-मंडित नहीं कर पाती। लड़की को देखकर वह और भी ईर्ष्या से जल उठती है और दुर्वाच्य कहती हुई और मरने के बाद भी उसे जलाती रहने का अभिशाप देती हुई दम तोड़ देती है। इस प्रकार कवित्व का वातावरण छिन्न-विच्छिन्न हो गया है और उपन्यासकार की वास्तव-प्रियता प्रधान हो उठी है।

उपन्यास और कहानियाँ आज के ज़माने में बहुत शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक साहित्यांग समझे जाते हैं। इनके लेख का अपना एक ज़बर्दस्त व्यक्तिगत मत होता है, जिसकी सचाई के विषय में लेखक का पूरा विश्वास होता है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम साहित्यिक रूप है। 'घासलेटी' उपन्यास के लेखक का अपना कोई मत नहीं, जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और जिस पर उसका अखंड विश्वास भी हो। इसीलिए 'घासलेटी' लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खड़ा होता है या विक्षुब्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड़ के आदमियों को तो अपनी नज़र के सामने रखकर लिखता है, पर अपने प्रचारित मत पर उसे खुद विश्वास नहीं होता।

प्रेमचंद का अपना मत है जिस पर वे पहाड़ के समान अविचलित खड़े हैं। इस एक महागुण के कारण नाना विरोधों के होते हुए भी जैनेन्द्रकुमार को साहित्य में अपना स्थान बना लेने से कोई नहीं रोक सका। उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ़ विश्वास न हो। महत्वपूर्ण उपन्यास या कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नहीं है। वे इसलिए महत्वपूर्ण होती है कि उनकी नींव मज़बूती के साथ उन वस्तुओं पर रखी हुई होती है, जो निरंतर गंभीर भाव से और निर्विवाद रूप में हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वंद्वों को प्रभावित करती हैं। हम उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटना-विकास की

चतुराई, पात्रों के सहज स्वाभाविक विकास की सचाई और अपने निजी दृष्टिकोण की ईमानदारी के कारण मनुष्यमात्र के साथ एकात्मता अनुभव करते हैं, दूसरों के दुःख-सुख में अपनापन पाते हैं, और इस प्रकार हमारा हृदय संवेदनशील और आत्मा महान बनता है। हम पहले लक्ष्य कर चुके हैं कि यह एकात्मता की अनुभूति साहित्य का चरम साध्य है।

5. आधुनिक उपन्यास की पृष्ठभूमि

अज्ञेय

आधुनिक उपन्यास की चर्चा करते समय विषय को मुख्यतया अंग्रेज़ी उपन्यास तक ही सीमित रखना विश्व-साहित्य में उपन्यास के विकास को एकांगी रूप देना है और स्वयं अंग्रेज़ी उपन्यास को भी अधूरा देखना है, क्योंकि, विशेषतया उत्तरकाल में, वह दूसरी भाषाओं के साहित्यों और साहित्यिक आंदोलनों से अत्यधिक प्रभावित होता रहा है। फिर भी, जहाँ तक हिंदी उपन्यास का प्रश्न है उसकी गतिविधि बहुत-कुछ अंग्रेज़ी उपन्यास के समान्तर ही रही और दूसरी साहित्यों का, यथा रूसी और फ़्रांसीसी साहित्यों का, प्रभाव उसने अंग्रेज़ी के माध्यम से ही ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त हिंदी-पाठक अंग्रेज़ी साहित्य से न्यूनाधिक मात्रा में परिचित होता ही है और इतर साहित्य का उसका ज्ञान न इतना विस्तृत होता है, न इतना व्यवस्थित। इसलिए उपन्यास-संबंधी साधारण स्थापनाओं के उदाहरण देने के लिए अंग्रेज़ी साहित्य को सामने रखना कदाचित् अधिक उपयोगी होगा।

आधुनिक उपन्यास के लक्षण पहचानने और उसे पूर्ववर्ती काल के अथवा विक्टोरियन युग के उपन्यास से पृथक् करने के लिए थोड़ा ऐतिहासिक प्रत्यवलोकन आवश्यक है।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास की पहली सीढ़ी डिकेन्स और थैकरे को माना जा सकता है। दोनों में बहुत अंतर है, फिर भी दोनों पर साथ विचार

किया जा सकता है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य समाज को तद्वत् और सम्पूर्ण चित्रित करने का था। दोनों ने अपने-अपने ढंग से समाज की सजीव गतिमयता का चित्र खींचा। डिकेन्स बौद्धिक नहीं था, उसने डार्विन नहीं पढ़ा था और विकासवाद के सिद्धांत से वह अपरिचित था। फिर भी समाज के विकास अथवा गतिमयता के प्रति उसकी दृष्टि सजग थी। पात्रों का घटनाओं के द्वारा चरित्र-विकास दिखाने में डिकेन्स असमर्थ है और उसके चरित्र आरंभ में जैसे आते हैं अंत तक वैसे ही चलते हैं। किंतु उसके उपन्यास में लोककथा की-सी शक्ति है और उसके अनेक चरित्र ऐसे लोक-चरित्र हैं जो अंग्रेज़ी पाठक के साधारण जीवन और बातचीत के मुहावरे का अंग बन गये हैं। जैसा किसी ने कहा, "जीवन में वैसे चरित्र नहीं होते, लेकिन उससे जीवन ही घाटे में रहता है। मिकॉबर और मिसेज़ गैम्प आदि जैसे पात्र अगर विधाता ने नहीं बनाए होते तो हमारा मन यही कहता कि उसे बनाने चाहिए थे।" थैकरे ने जीवन का गंभीर चित्र खींचने का प्रयत्न किया। उसका '**वैनिटी फ़ेयर**' इस समय तक के अंग्रेज़ी साहित्य में समाजालोचना का सब से महत्वपूर्ण उदाहरण है।

वास्तव में डिकेन्स और थैकरे को ही आधुनिक उपन्यास के आदि-प्रवर्तक माना जा सकता हे। लेकिन फिर भी आधुनिक उपन्यास उनके उपन्यासों से बिलकुल भिन्न है, जैसा कि हम अभी देखेंगे।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास का दूसरा चरण ऐंटनी ट्रालॅप, जार्ज एलियट और मेरेडिथ में लक्षित होता है। ट्रॉलॅप को थैकरे का अनुयायी माना जा सकता है यद्यपि वह स्वयं एक अच्छा उपन्यासकार था। तथापि यह भी कहा जा सकता है कि वह उपन्यासकार का उत्तम उदाहरण था क्योंकि वह शुद्ध उपन्यासकार था, ऐसा उपन्यासकार नहीं जो साथ-साथ कवि या आलोचक या समाज-शास्त्री या सुधारक भी हो। उसके लिए मुख्य बात कहानी कहना था। युवक और युवतियों के मनोरंजन के लिए साधारण जीवन का ऐसा चित्र, जिसमें हास्य का पुट और करुणा की मिठास हो, वह ट्रालॅप के उपन्यास की परिभाषा है। उसके उपन्यासों में चरित्र के मनोविश्लेषण का अनुपात कुछ अधिक था। लेकिन फिर भी उसकी मूल प्रवृत्ति समाज-चित्रण

की ही थी। स्वभाव से वह परंपरावादी था और धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियों की ओर उसकी प्रवृत्ति सहज स्वीकार की ही थी। जार्ज एलियट, मेरेडिथ और हेनरी जेम्स मुख्यतया चरित्र का विश्लेषण करते थे। जार्ज एलियट अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक थी। नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह तो उसमें नहीं था तथापि परंपरागत धर्म-विश्वास पर उसे संदेह था। वह ईसाई नीति-शास्त्रों को मानती और उसकी रक्षा करना चाहती थी लेकिन साथ ही उसे आधिदैविक या अति-प्राकृतिक आधारों से अलग भी करना चाहती थी।

मेरेडिथ में दार्शनिक जिज्ञासा का भाव और उभर कर आया। वह जार्ज एलियट की अपेक्षा कहीं अधिक मौलिक विचारक था, जीवन के तथा धर्म के गंभीरतर प्रश्नों के प्रति सजग और उचितानुचित, पाप-पुण्य आदि की समस्याओं से उलझा हुआ। जिन प्रश्नों को थैकरे ने अपने समाजालोचन में कभी छुआ भी न था उन्हें मेरेडिथ मुख्य रूप से सामने लाता था। मेरेडिथ ने ही पहले-पहल समकालीन तथा विक्टोरियन उपन्यास की अपर्याप्तता घोषित की और जीवन-दर्शन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। 'यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि यदि हम शीघ्र ही उपन्यास में जीवन-दर्शन का समावेश नहीं करते तो वह कला अपने बहुसंख्यक उपासकों के रहते हुए भी नष्ट हो जाएगी।'

तीसरा चरण विक्टोरियन समाज के विघटन का समय है और इस चरण के उपन्यासों में जिज्ञासाएँ तीव्र हो उठती हैं। दूसरी ओर इस काल के लेखक में भाषा की अलंकृति भी बहुत देखी जाती है। इस चरण के मुख्य और महान् उपन्यासकार टामस हार्डी है। मेरेडिथ ने जिन समस्याओं को सूचित ही करके छोड़ दिया था, हार्डी उनकी गंभीरता से आतंकित हो उठता है। वह समस्याओं को ही गंभीर और विचारपूर्ण ढंग से उपस्थित नहीं करता बल्कि उनके सुलझाने या उत्तर की ओर भी संकेत करता है। '**टेस**' में पतिता नारी के जीवनाधिकार का प्रश्न उठाया गया है। '**जूड द ऑब्सक्योर**' में समाज के अंदर व्यक्ति की समस्याओं को उठाया गया है।

लेकिन हार्डी की आलोचना को सामाजिक नहीं कहा जा सकता, वह जागतिक (कॉस्मिक) ही है क्योंकि उनका आक्रोश समकालीन समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों के प्रति नहीं, समूचे जीवन-विधान के प्रति है। उसके अनुसार एक ओर मानव प्राणी है जो अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और आयोजनों को समझता है; दूसरी ओर जड़ प्रकृति है जिसमें न चेतनता है, न विवेक। इस प्रकार मानवीय प्रवृत्तियाँ तो बोध-गम्य है लेकिन घटना-क्रम तर्कातीत और विसंगत है – जड़ जगत् का संगठन विवेकपूर्ण नहीं है। मानव और प्रकृति का यह विरोध, मानवीय उद्योग और विधि के विधान का यह वैषम्य या असंगति ही मानव की ट्रेजेडी का मूल है।

हार्डी का साहित्य लोक-परंपरा और लोक-विश्वासों पर निर्भर करता हुआ चलता है। लोक-गाथा, लोक-कला, लोक-विश्वास और लोक-धर्म उसके साहित्य में इतना महत्व रखते हैं कि उपन्यास को विशिष्ट प्रदेश और उस प्रदेश की लोक-परंपरा से पृथक् करके पूरी तरह समझा नहीं जा सकता।

हार्डी को 'अंतिम विक्टोरियन' कहा जाता है। लकेकिन उसे इतनी ही सार्थकता के साथ 'अंतिम एलिज़ाबीथन' भी कहा जा सकता है। क्योंकि हार्डी शेक्सपियर के साहित्य में डूबा हुआ है और शेक्सपियर का या एलिज़ाबेथ-कालीन नाटककारों का प्रभाव उसके साहित्य में स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरणतया हार्डी के देहाती पात्र शेक्सपियर के पात्रों से बहुत-कुछ मिलते हैं – वही पार्थिवता और वही काव्यमयता उनमें होती है। इसी प्रकार दैव-संयोग (कोइंसिडेंस) और हास्य का वैसा ही उपयोग हार्डी में है जैसा कि एलिज़ाबेथकालीन नाटक में। वैचित्र्य और वैषम्य का एलिज़ाबेथ-कालीन आकर्षण हार्डी को भी आकृष्ट करता है। **'रिटर्न ऑफ़ द नेटिव'** के अंशों की तुलना वेब्स्टर के **'द व्हाइट डेविल'** से और **'मेयर ऑफ़ कास्टरब्रिज'** की तुलना शेक्सपियर के **'किंग लियर'** से की जा सकती है।

हार्डी का समकालीन एक और उपन्यासकार अंग्रेज़ी उपन्यास की परंपरा में विशेष स्थान रखते हुए भी प्रायः उपेक्षित होता रहा है; वह है जार्ज गिसिंग। इसका कारण कुछ तो हार्डी का नैकट्य हो सकता है, कुछ यह कि गिसिंग की सत्यवादिता में एक रूखापन और कटुता है। वास्तव में गिसिंग 'मोह-भंग'

का पहला उपन्यासकार है। शैली और विधान की दृष्टि से यद्यपि वह परंपरानुगामी है, तथापि वस्तु की दृष्टि से वह भविष्योन्मुखी है – रूमानी प्रभावों से मुक्त, स्पष्टवादी, धार्मिक और राजनीतिक मान्यताओं के विषय में संदेहवादी। गिसिंग ने इसका तीव्र अनुभव किया कि उपन्यास को अपना विस्तार नये वर्गों और नयी गहराइयों में ले जाना चाहिए। **'अनक्लास्ड'** (वर्ग च्युत) नामक उपन्यास में वह कहता है, 'रोज़मर्रा जीवन का उपन्यास अब घिस गया है। अब हमें और गहरे खोदना होगा और अछूते सामाजिक स्तर तक पहुँचना होगा। इसका अनुभव डिकेन्स ने किया था लेकिन उसमें अपने विषय का सामना करने का साहस नहीं था।'

गिसिंग के इस मोह-भंग में नये अथवा आधुनिक उपन्यास का बीज निहित है।

विक्टोरिया के युग के बाद एडवर्ड का काल केवल एक अंतराल है; विक्टोरियन से परिवर्तन वास्तव में प्रथम विश्व-युद्ध में ही आया जिसने सहसा भारी उथल-पुथल कर दी और नये उपन्यास को जन्म दिया। आधुनिक उपन्यास वास्तव में युद्धोत्तर-काल का उपन्यास है; यह दूसरी बात है कि उसके बीज – जैसा ऊपर बताया गया है – पूर्ववर्ती कुछ उपन्यासों में ही निहित थे, और आधुनिक उपन्यास की परंपरा का विवेचन बिना विक्टोरियन युग में इन प्रवृत्तियों के मूल-स्रोतों को पहचाने हो ही नहीं सकता।

विक्टोरियन उपन्यास मध्यवर्ग का, मध्यवर्ग की भावना का, बूर्जुआ संस्कृति का, उपन्यास था। उसका विकास इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के समान्तर चला। किंतु विश्व-युद्ध ने बूर्जुआ जगत् को जड़ से हिला दिया, उसकी संस्कृति लड़खड़ा कर टूट गयी, उसके प्रतिमान सहसा सन्दिग्ध हो उठे :

> 'सभी मानवीय संबंध परिवर्तित हो गए हैं – स्वामी और भृत्य के, पति और पत्नी के, माता-पिता और सन्तति के। और जब मानव-संबंधों में परिवर्तन आता है, तब धर्म, आचार, राजनीतिक और साहित्य में भी साथ-साथ परिवर्तन होता है' (– वर्जिनिया वूल्फ़)

साहित्यकार की दृष्टि अब वर्गों के संघर्ष को स्पष्ट देखने लगी। इतना ही नहीं, उसने देखा कि वर्गों के जीवन के वृत्त के भीतर भी अनेक दरारें पड़ गयी हैं, वर्ग-संघर्ष के भीतर जातियों या घरानों के एक अलग संघर्ष की लीकें पहचानी जा सकती है। महायुद्ध ने मध्यवर्ग के जीवन को तो हिलाया ही, घरानों के जीवन पर भी गहरा आघात किया। महायुद्ध की चपेट में एक समूची युवा पीढ़ी को खोकर ये मध्यवर्गीय घराने अपने भविष्य की अनिश्चितता से आतंकित हो उठे – क्योंकि युवा पीढ़ी के मिट जाने से उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार – और कुल का स्थायित्व – जोखिम में पड़ गया। सम्पत्ति-मात्र खतरे में है, यह दुश्चिंता मध्यवर्गीय जीवन को घुन-सी खाने लगी।

गाल्सवर्दी और किपलिंग इस संकट के उपन्यासकार हैं। गाल्सवर्दी के **'फ़ोर्साइट सागा'** की उपन्यास-परंपरा घरानों के जीवन के विस्फोट का ही चित्र है। 'मैने ऑफ़ प्रॉपर्टी' का नाम ही अभिप्राय-भरा है, और 'प्रॉपर्टी' की रक्षा की व्याकुलता गाल्सवर्दी के पात्रों का मुख्य मनोभाव है : वर्गीय या कुलगत मर्यादाओं की रक्षा का आग्रह संपत्ति-संबंधी उस चिंता का ही प्रक्षेपण है।

वर्जिनिया वूल्फ़ और गालस्वर्दी-किपलिंग में एक बड़ा अंतर है : ये दोनों उपन्यासकार बूर्जुआ उपन्यासकार है, किंतु वर्जिनिया वूल्फ़ बूर्जुआ नहीं है, यद्यपि उसे बूर्जुआ-विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। उसकी बौद्धिकता और सूक्ष्म अनुभूति उसे इससे ऊपर उठाते हैं : प्रतिमानों के बूर्जुआ होते हुए भी उसका दृष्टिकोण अधिक बौद्धिक और उसकी संवेदना का वृत्त अधिक विस्तृत है।

इनके अनंतर जो महत्वपूर्ण नाम सामने आता है – और इस नाम के साथ अंग्रेज़ी उपन्यास संक्रांति-काल पार करके 'आधुनिक' युग में आ जाता है – वह डी.एच. लारेंस का है। लारेंस स्पष्टतया बूर्जुआ-विरोधी-था। अपने युग की वह एक अद्‌भुत अनमिल उपज था : उसका दृष्टिकोण रूमानी था परंतु बूर्जुआ-विरोधी, क्योंकि उसमें एक नास्तिक अभिजात्य था उनकी चरमवादी प्रवृत्ति इस बनी-बनायी घटिया दुनिया को सह नहीं सकती थी : उसका

विद्रोह इस 'रेडी-मेड' बूर्जुआ मानदण्डों के प्रति उसका अस्वीकार एक अनीश्वरवादी या सर्वदेवतावादी (पैगन) की स्वच्छन्दता की घोषणा थी। भौतिक जीवन के साथ चेतना का ऐसा नया संबंध स्थापित करने के लिए, जो बूर्जुआ जीवन के ओछेपन से बंधा हुआ न हो, उसकी अभिजात मनोभावना संसार की सभी जानी हुई संस्कृतियों का तिरस्कार करके उनके घेरे के बाहर जाने को तैयार थी : ग्रीक, यहूदी, रोमी, मध्ययुगीन, पुनरुत्थान-कालीन सभी संस्कृतियों को अपर्याप्त पाकर लारेंस नयी खोज के लिए कहीं भी जाने को आतुर था – भूली हुई प्राक्-सभ्यताओं की ओर भी– **"आई वांट टू टर्न माई बैक ऑन द होल ब्लास्टेड पास्ट"** – मैं समूचे अभागे अतीत की ओर पीठ फेर लेना चाहता हूँ – यह लारेंस की उक्ति थी; और यूरोप को छोड़कर वह मेक्सिको गया था तो संवेदना के किसी पुराने अर्द्ध-विस्मृत प्रकार की खोज में। मेक्सिको-विषयक अपने उपन्यास **'द प्लम्ड सर्पेंट'** में वह लिखता है "मैं मूलभूत भौतिक यथार्थताओ के प्रति संवेदना का पुनःसंस्कार करना चाहता हूँ।"

विक्टोरियन काल की प्रवृत्तियाँ लारेंस के परवर्ती युग में भी लक्षित होती हैं, और लारेंस के पूर्वसूचक विक्टोरियन युग में थे; पर लारेंस से स्पष्ट युग-परिवर्तन माना जा सकता है।

इस ऐतिहासिक अवलोकन के बाद अब इस पर विचार किया जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास की कौन-सी प्रवृत्तियाँ उसे विक्टोरियन उपन्यास से पृथक् करती हैं।

1. जो है उसके प्रति, समवर्ती नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक मूल्यों के प्रति, अस्वीकार और नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की आकुलता – यही वह मौलिक भेद है जो विक्टोरियन और आधुनिक का काल-विभाजन करता हे। नये प्रतिमानों और मूल्यों की यह खोज लारेंस और ट्रालॅप की तुलना करने से स्पष्ट उभर कर सामने आती है। लारेंस सर्वथा आधुनिक है, ट्रालॅप सम्पूर्णतया विक्टोरियन : दोनों का न केवल मुहावरा भिन्न है वरन् अनुभूति-क्षेत्र ही अलग-अलग है।

नये मूल्यों की खोज को लारेंस भावना के और काम-संबंधों के क्षेत्र में भी ले जाता है। उसके पात्र अभूतपूर्व है : उनमें हम उनकी चेतना से पृथक् उनकी संवेदनाओं का प्रवाह और आदान-प्रदान देखते हैं : चेतन भावनाओं और अवचेतन संवेदनाओं के स्तर अलग-अलग हैं; दोनों में तीव्रता और प्रवाह है। लारेंस के पात्रों का भाव-जीवन उतना ही गतिमय है जितना हेनरी जेम्स के पात्रों का बुद्धि-जीवन : 'जानना रक्त से होता है, केवल मन से नहीं' – डी.एच. लारेंस। दोनों में ऐन्द्रिय संवेदनाओं का वर्णन करने और उन्हें पाठक तक पहुँचाने की असाधारण क्षमता थी, और दोनों में उपन्यास की पहुंच और गहराई को बढ़ाया।

जेम्स जॉयस अंशतः ही आधुनिक है। भाषा और मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसके प्रतिमान आधुनिक है, किंतु उसकी नैतिक और सामाजिक मान्यताएँ कैथलिक हैं : इसी प्रकार एल्डस हक्सले और वर्जिनिया वूल्फ़ भी सम्पूर्णतया आधुनिक नहीं हैं, क्योंकि वे केवल कुछ ही क्षेत्रों में नये प्रतिमान खोजते या चाहते हैं, और अन्य क्षेत्रों मे पुराने प्रतिमानों को ही मानते चलते हैं। हक्सले ने प्रायः ऐसे समाज या काल का चित्रण किया है जिसमें कोई प्रतिमान ही नहीं है; कोई ऐसे आधार ही नहीं हैं जिन पर कर्म या आचार की कसौटी हो सके। '**पाएंट काउंटरपाएंट**' में लारेंस के पथ की ओर थोड़ा-सा झुकाव है, किंतु अनंतर हक्सले रहस्यवादी या आध्यात्मिक अन्वेषण की ओर झुक जाता है, जिसके प्रथम संकेत '**दोज़ बैरन लीव्स**' में मिलते हैं और अधिक विकसित रूप '**आइलेस इन गाज़ा**' में और '**टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप**' में। इस दृष्टि से हक्सले वास्तव में अर्ध-आधुनिक भी नहीं, छद्म आधुनिक ही है।

नये मूल्यों की खोज ने जो अनेक दिशाएँ ग्रहण कीं, उनमें कुछ का संक्षेप में निरूपण कर देना अनुचित न होगा :

(क) धर्म और नीति के क्षेत्र में – मानववाद, करुणा के आदर्श की पुनःप्रतिष्ठा

(ख) सहज बोध बनाम बुद्धि – मन के विरुद्ध 'रक्त' का सहारा।

(ग) समाज-संगठन के क्षेत्र में – बूर्जुआ सामाजिक ढाँचे का तिरस्कार, घरानों और परिवारों के जीवन का विघटन।

(घ) काम-संबंधों के क्षेत्रों में – सेक्स की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर-संबंध मानती है, न केवल सामाजिक बंधन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील-सम्पृक्त भाव' (डाइनैमिक कम्यूनिकेशन)[1]।

2. आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों ने जो नयी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, उनके कारण जो अवस्था उत्पन्न हुई है, वह आधुनिक उपन्यास की दूसरी विशेषता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को नयी दृष्टि दी है, पर उसके कारण हमारी मान्यताओं में और उनके आधारों में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें हम पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सके हैं, जीवन और आचार में आत्मसात् करना तो दूर की बात है। ज्ञान और आचार की अवस्थाओं का यह विपर्यय अनेक समस्याएँ और संघर्ष उत्पन्न करता है जो आधुनिक जीवन का एक मूलभूत सत्य है और जिनका प्रभाव आधुनिक उपन्यासकार पर पड़ना अनिवार्य है।

मार्क्सवाद इन समस्याओं का निराकरण नहीं करता। यह जीवन का एक वैज्ञानिक जड़वादी आधार उपस्थित करना चाहता है, पर यह आधार अपर्याप्त है और इसलिए असह्य हो उठता है। यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक उपन्यासकार ने विज्ञान को जीवन का आधार मान लिया है। निःसंदेह कई नये उपन्यासकार दावा करते हैं कि हमारी संवेदनाएँ बिलकुल बदल गयी हैं और उनका आधार संपर्णूतया वैज्ञानिक है, पर वास्तव में यह दावा निराधार है। यह ते ठीक है कि वे डी.एच. लारेंस से भिन्न है, पर कलाकार के रूप में वे कुंठित हैं और अपनी मान्यताओं के ढाँचे के अंदर असंतोष और कुंठा का अनुभव भी करते रहते हैं। डी.एच. लारेंस का आमूल विद्रोह या नकारात्मक आग्रह उनका नहीं है, उसे वे भ्रांत मानते हैं; पर स्वयं शांति या स्थिरता पाने में वे असमर्थ हैं। काव्य में मायाकोव्स्की, या उपन्यास में एरेनबुर्ग इसके अच्छे उदाहरण हैं : स्वयं अपनी मान्यता और अपने जीवन का अंतर्विरोध उन्हें बेचैन कर देता है, यह बेचैनी और उद्भ्रांति उनकी रचना में अभिव्यक्त होती

है। भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न यह उद्भ्रांति क्या मार्क्सिस्ट लेखकों में और क्या अन्य लेखकों में – आधुनिक उपन्यास की विशेषता है।

आधुनिक उपन्यासकार वर्तमान परिस्थिति या परिवेश को अस्वीकार करता है, किंतु नये स्तर पर किसी परिवेश का स्वीकार या उसके साथ समन्वय की स्थापना नहीं कर पाया। इससे जो शून्य उत्पन्न होता है, वह आधुनिक उपन्यास का एक विशेष लक्षण है। आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उसका नयापन न तो विषय-वस्तु का नयापन है, न विधान का, न कथानक का, न रूपाकार का; वह मूलतः जीवन के प्रति ,दृष्टिकोण का नयापन है। यद्यपि वस्तु, शैली, विधान, कथा आदि का नयापन उसमें हो सकता है और होता भी है, तथापि उसकी आधुनिकता की कसौटी वह नहीं है, कसौटी उसका नया दृष्टिकोण ही है।

3. समय या काल के प्रश्न को लेकर आधुनिक उपन्यासकार की व्यस्तता कदाचित् उसके विज्ञान-संबंधी ऊहापोह का ही एक पहलू है।

काव्य में टी.एस. एलियट और गद्य में वर्जिनिया वूल्फ़ बार-बार 'अतीत की वर्तमानता' की बात करते हैं; वर्जिनिया वूल्फ़ के लिए व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही 'अतीत की खोज' है।[2] उसका एक चरित्र-नायक ऑर्लैंडो तीन सौ वर्ष तक जीता है; एलिज़ाबेथ के युग में वह बच्चा है, तीस वर्ष की आयु में वह पोप के युग में प्रवेश करता है और सन् 1929 में अभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। किसी न इसे 'आइन्स्टाइन के सिद्धांत का काव्यरूप' कहा है। एल्डस हक्सले भी काल के प्रश्न को लेकर व्यस्त है : इसके संकेत उसके प्रारंभिक उपन्यासों में भी मिलते हैं, और **'टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप'** का शीर्षक (यद्यपि वह हैमलेट की एक उक्ति से लिया गया है) इस व्यस्तता को स्पष्ट प्रकट करता है।

किंतु यह आधुनिक उपन्यास का एक अपेक्षया कम महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में उसकी वास्तविक कसौटी उसका दृष्टिकोण ही है : यही उसे पूर्ववर्ती उपन्यास से पृथक् करता है, और उसे समझने के लिए इसके ऐतिहासिक विकास और कारणों का समझना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले कह आये, विक्टोरियन प्रवृत्तियाँ आधुनिक युग तक भी चली आती हैं,

और आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच पूर्ववर्ती युग में पाए जाते हैं; तथापि दोनों युगों का अंतर इतना स्पष्ट है कि उसके बारे में भूल हो नहीं सकती, और यह भी समझ में आ जाता है कि दृष्टिकोण के इस आमूल परिवर्तन के बाद फिर पीछे लौटना तो असंभव है, भले ही पाठकों को विक्टोरियन उपन्यास अधिक रोचक लगते रहें – जैसा कि वे निःसंदेह अनेकों को लगते हैं। यह परिवर्तन एक प्रौढ़ता का द्योतक है जिससे पीछे नहीं लौटा जा सकता। और किसी को क्यों लौटना चाहिए, इनका कारण कम-से-कम कोई आधुनिक तो नहीं सोच सकता।

संदर्भ

1. डी.एच. लारेंस ने कहा है : 'मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज़ रिलेशनशिप इज़ फ़िलियल, दैट इज़, इट इज़ इनसेस्ट।'
2. 'रेशर्शे दु तॉ पेर्दू' – खोए हुए समय की खोज – मार्सेल प्रूस्त की एक उपन्यासमाला का शीर्षक है।

6. आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण

अज्ञेय

समकालीन साहित्य-विधाओं में उपन्यास शायद सबसे अधिक विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। यह भी इसकी विशेषता का अंग है कि इसकी परिभाषा इतनी कठिन है। इतना ही नहीं, इसका उपयुक्त नाम भी नहीं है। 'उपन्यास' से केवल फैलाव की सूचना होती है, 'आख्यान' में बत-कही की ध्वनि मुख्य है। अंग्रेज़ी 'नावेल' (और उसी से उत्पन्न मराठी 'नवलिका') में नयेपन पर बल है। और 'फ़िक्शन' से मनगढ़ंत की ध्वनि होती है। ये सभी नाम न केवल अनुपयुक्त हैं बल्कि आधुनिक उपन्यासकार की भावना और प्रवृत्ति के प्रतिकूल भी जाते हैं।

किसी ने कहा है कि 'उपन्यास की सबसे अच्छी परिभाषा उपन्यास का इतिहास है।' इस उक्ति में गहरा सत्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो उपन्यास मानव के अपनी परिस्थितियों के साथ संबंध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है। मानव का मानसिक विकास जैसे-जैसे इस संबंध की परीक्षा की ओर उत्तरोत्तर अधिक आकृष्ट हुआ है, वैसे ही इस संबंध की अभिव्यक्ति भी उत्तरोत्तर उसके प्रति मानव के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती गयी है। इस लिए कहा जा सकता है कि उपन्यास में दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन का महत्व उपन्यास की परिभाषा में ही निहित है।

उपन्यास सबसे पहले कहानी के रूप में आरंभ हुआ – वह घटनाओं अथवा कर्मों का वृत्तान्त था, जिन घटनाओं में कोई परस्पर संबंध आवश्यक था। अर्थात् उपन्यास सबसे पहले इतिवृत्त था। लेकिन इतिवृत्त में भी घटना-वस्तु का चुनाव और आकलन आवश्यक होता है; और घटनाओं का परस्पर संबंध विभिन्न दृष्टियों से देखा जाने पर विभिन्न महत्व रख सकता है, इसलिए यहाँ भी इतिवृत्त-लेखक की दृष्टि महत्व रखती है।

दृष्टि का महत्व प्रत्येक साहित्य-विधा में है, लेकिन काव्य में इसकी अपेक्षया अधिक आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। क्योंकि काव्य स्पष्टतया एक 'सब्जेक्टिव ' अभिव्यक्ति है। लेकिन उपन्यास-कला को अधिक वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) माना जाता है; इसलिए औपन्यासिक की दृष्टि की प्रासंगिकता इतनी आसानी से स्वीकार नहीं कर ली जाती। लेकिन वास्तव में उपन्यास में भी दृष्टि का महत्व कम नहीं है।

उपन्यास में समाज की प्रगति का हर पहलू प्रतिबिंबित होता है। अभिजात या सामन्तिक समाज का विघटन और आधुनिक युग का आरंभ, आधुनिक युग के आंतरिक संघर्ष की बढ़ती हुई तीव्रता और पूंजीवाद के विकास से संयुक्त परिवार-प्रथा का ह्रास इत्यादि, सभी का प्रतिनिधित्व उपन्यास में मिलेगा। लेकिन उनके वर्णन में भी उपन्यासकार की दृष्टिक क्रमशः व्यक्ति पर केंद्रित होती गयी है। आरंभ में वृत्तांत में एक नायक होता था जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थीं। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरंतर बढ़ता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अंत में चरित-नायक व्यक्ति-प्रकार ('टाइप ') न होकर विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओं के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त', या 'शांत' आदि वर्गों मे रख देना पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।

व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासों को जन्म दिया। टॉमस हार्डी के उपन्यास व्यक्ति और परिस्थिति (या नियति) के संघर्ष के उपन्यास हैं। उनका संघर्ष विश्व-संघर्ष है, जिस अर्थ में ग्रीक दुःखांत नाटक का संघर्ष विश्व-संघर्ष। इस मूल संघर्ष के

अलावा और अनेक प्रकार के संघर्ष भी उभर कर हमारे सामने न आए होते तो उपन्यास का विकास यहीं तक आ कर रुक जाता। लेकिन समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का संघर्ष, फिर वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल में परिवार और परिवार का, और अंततोगत्वा परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष -- इन सब पर टिक कर उपन्यास की दृष्टि विकसित होती रही और उपन्यास में सामाजिक वस्तु का अनुपात बढ़ता गया। इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास में हुई। यहाँ 'व्यक्तित्व के या व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास' और 'चरित्र के अथवा मानव-चरित्र के उपन्यास' *का अंतर समझ लेना उचित होगा। मानव-चरित्र और व्यक्ति-चरित्र में यह* अंतर है कि मानव-चरित्र में मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जबकि व्यक्ति-चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केंद्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक् करके चुनते हैं। अर्थात् पहले में हम मानवेतर जीव से मानव प्राणी को पृथक् करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं; दूसरे में हम एक व्यक्ति-मानव को इतर मानव-व्यक्तियों से पृथक् करके उसके व्यक्तित्व को मानव-समाज के परिपार्श्व में देखते हैं।

उपन्यास का यह विकास डार्विन और मार्क्स के आविर्भाव और प्रचार के साथ-साथ हुआ। नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यास की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी। उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानव और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना-प्रवाह ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण ('इंटर्नल मोनोलाग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं। और आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्व रखता है।

मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र की ओर बढ़कर भी उपन्यास रुक नहीं गया है; आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में यह प्रश्न भी अधिकाधिक महत्वपूर्ण होता गया है कि मानव-व्यक्ति का व्यष्टि-रूप में क्या स्थान है – वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर के संघर्ष के और नये आयाम हमारे समाने लाता है। संघर्ष की चरम परिणतियों के चित्रण में स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र भी आएँ, न केवल खंडित व्यक्तित्वों के बल्कि ऐसी इकाइयों के भी जिनका अपने इकाई होने में विश्वास भी डगमगा गया हो। व्यक्तित्व की, अस्तित्व की, अपनेपन की, 'आइडेंटिटी' की खोज की पुकार इसी का मुखर रूप है।

उपन्यासकार की दृष्टि की गहराई और उसकी परिकल्पना के साथ-साथ स्वाभाविक था कि 'संघर्ष' अथवा 'घटना' की उसकी परिकल्पना भी बदल जाये। और संघर्ष क्या है, अथवा घटना किसे कहते हैं, इसकी नयी परिभाषा के साथ संघर्ष के चित्रण और घटना के वर्णन का रूप भी बिलकुल बदल गया। बाह्य परिस्थिति से संघर्ष – मानव और नियति का संघर्ष – इतना महत्वपूर्ण न रहा, क्योंकि व्यक्ति-मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा क्योंकि **मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया।** इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्व नहीं रहा क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वासित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती और रह सकती है।

इस प्रकार कलाकार की दृष्टि का विकास क्रमशः जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण का महत्व बढ़ाता चलता है। और विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता से दृष्टिकोण का उपन्यास होता जाता है। उपन्यास का रूपाकार के परिवर्तन भी इसी से सम्बद्ध है। आधुनिक उपन्यास स्पष्ट रूपाकार और वर्णन, घटना-वृत्तांत की स्पष्टता और सहजता को खो रहा है; उसमें वक्रता और व्यंजना बढ़ती जाती है और उसका रूपाकार भी धुँधला और उलझा हुआ होता जा रहा है।

इस नयी दृष्टि अथवा दृष्टिकोण के महत्व का एक उदाहरण आधुनिक उपन्यास में काम-जीवन अथवा सेक्स का वर्णन है। आधुनिक उपन्यास में सेक्स पहले से अधिक महत्व भी रखता है और कम भी। अधिक इसलिए कि अब हम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह उसके प्रभाव की गहराई और विस्तार को समझते हैं और यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग में काम-जीवन का असामंजस्य और विषमता आधुनिक समाज में बहुत दूर तक फैला हुआ एक रोग है। उन्नीसवीं शती से पहले न तो उपन्यासकार यह बात अच्छी तरह जानता था कि काम-प्रेरणाएँ न केवल स्त्री-पुरुषों की दैहिक प्रवृत्तियों से संबंध रखती हैं बल्कि उनके सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करती हैं और उनकी धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, पहलुओं को प्रभावित करती है और उनकी धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और कला-संबंधी मान्यताओं और विश्वासों का रूप निश्चित करती है; न वह यही जानता या मानता था कि समकालीन सामाजिक परिस्थिति में काम-संबंधों में कितनी विषमता आ गयी है। प्राचीन काल में राजकुमार और राजकुमारी का मिलन और प्रेम होता था, फिर विवाह हो जाता था और वे शेष जीवन सुख से काट देते थे। आज ऐसा लगभग कभी नहीं होता और दाम्पत्य जीवन अगर सुखी होता है तो बड़ी साधना और परस्पर समझौते के आधार पर ही होता है। इन सब कारणों का ज्ञान होने से आधुनिक उपन्यासकार की दृष्टि में सेक्स का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। दूसरी ओर नयी परिस्थितियों में उसका महत्व कम भी हो गया है क्योंकि उसका अस्तित्व सहज भाव से स्वीकार किया जा सकता है; साथ ही काम-जीवन में 'पवित्रता' का वह अर्थ या महत्व नहीं रहा है जो पहले था। आज का उपन्यासकार (या साधारण समाज) यह नहीं मानता कि दाम्पत्य जीवन के सुखी होने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि पुरुष और स्त्री को इससे पहले कोई कामज अनुभूति न हुई हो या वे वासना से अपरिचित रहे हों। बल्कि कोई पूर्वग्रह लेकर वह चलता है तो इससे उलटा ही। न आज विवाह-पूर्व ऐसी अनुभूति या संसर्ग जीवन का अभिशाप बन जाता है, जैसा कि पश्चिम में उन्नीसवीं शती के उत्तरकाल तक होता था – टॉमस हार्डी की 'टैस' जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण है – या कि भारतीय साहित्य में पहले महायुद्ध के समय तक होता

था। आज यह माना जाता है कि स्त्री एक बार भूल करके भी संभल सकती है, नागरिक जीवन में स्थान पा सकती है, समाज की उपयोगी सदस्य हो सकती है और जीवन के साथ काम-चलाऊ समझौता करके सुखी भी हो सकती है। आज पहले की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक हैं जिनके सेक्स-जीवन में विषमता हो; लेकिन ऐसे अपेक्षया बहुत कम जिनका जीवन सेक्स के कारण नष्ट हो जाता है। इसका कारण सेक्स के संबंध में समाज का नया दृष्टिकोण है, और आधुनिक उपन्यास में यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

अभी तक हम दृष्टिकोण के महत्त्व की बात करते आए हैं। लेकिन दृष्टिकोण की एक समस्या भी खड़ी हो जाती है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण आत्म-रक्षा की एक शर्त बन जा सकता है – हमारी अस्तित्व-रक्षा हो सकती है या नहीं, इसका उत्तर इसी पर निर्भर कर सकता है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है। पश्चिम की सभी सभ्याताओं का विकास अंततोगत्वा इसी प्रश्न पर आकर अटका है, और आधुनिक (पाश्चात्य) सभ्यता के सामने भी आज यही प्रश्न है; जीवन को हम कैसे देखें कि उसका दबाव हम सह सकें; जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो, जिससे हम आज की कठिनाइयों के बावजूद अपना अस्तित्व बनाए रह सकें? यह प्रश्न नया तो नहीं है और प्रत्येक सभ्यता एक प्रकार से इसी प्रश्न का संगठित और सामूहिक उत्तर होती है; लेकिन इस समस्या का पूरा दबाव, इसी की पूरी तीव्रता आधुनिक युग का व्यक्ति ही समझ सकता है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि इसकी सबसे नयी और आशावादी सभ्यता भी पूर्ववर्ती सभ्यताओं की तरह एक प्रश्न-विराम के सामने आ खड़ी हुई है। एक कारण यह भी है कि वैज्ञानिक विश्वस्तता और स्पष्टता की ओर इधर जो वेगवती प्रगति हो रही और जिससे उसे आशा हो चली थी कि वह जीवन के सत्य को हस्तगत कर लेगी, वह प्रगति भी मानो रुद्ध हो गयी है और अनुसंधान एक सूनी दीवार से टकरा कर रह गया है। सापेक्षवाद की चोट ने यों तो हमारी बुद्धि को ही धक्का पहुंचाया और हमारी वैचारिक भूमि को कँपा दिया, लेकिन हमारे भौतिक-सामाजिक जीवन की जड़ों को भी उसने बुरी तरह हिला दिया। मानव अभी नये वैज्ञानिक यथार्थ को सही ढंग से स्वीकार नहीं कर सका है

– और न नये वैज्ञानिक अनिश्चय को सम्पूर्णतया अपना सका है – नये वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर अपने विश्वास और मान्यताओं का पुनःपरीक्षण और समन्वय वह अभी नहीं कर सका है। परिस्थिति इसलिए और भी शोचनीय है कि बहुत-से लोग अब मानने लगे हैं कि किसी भी वस्तु में विश्वास करना या किसी भी विश्वास में आशा केंद्रित करना विपज्जनक है। दूध का जला छाछ फूँक कर पीता है, पुरानी निश्चयात्मकता खोकर मानव सभी चीज़ों के बारे में शंकित हो उठे तो क्या आश्चर्य? इस प्रकार एक ओर निश्चयात्मकता की माँग सबसे अधिक प्रबल है, (विश्वासों का होना ही पर्याप्त नहीं है, विश्वास भी होना चाहिए)[1]। तो दूसरी ओर भूतपूर्व निश्चयात्मकता और विश्वास से निराशा भी चरम बिंदु पर है (मैं समूचे झुलसे अतीत से मुँह मोड़ लेना चाहता हूँ।[2] 'काश कि समय की दिशा में कोई नयी आँधी उठे और मुझे बहा ले जाए!')[3]

इस अनिश्चय, उलझन और अव्यवस्था में, जिसे एक व्यक्ति के भीतर अनेक या बहुमुखी व्यक्तित्व का उभार और भी जटिल बना देता है, अस्तित्व-रक्षा का एक-मात्र साधन जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही हो जाता है। वह दृष्टिकोण क्या हो, उसके बारे में अनेक मत हैं। एक मत यह भी है कि दृष्टिकोण क्या है, इसका महत्व उतना नहीं है जितना इसका कि दृष्टिकोण है, क्योंकि दृष्टिकोण होना ही सूचित करता है कि उपन्यासकार एक ऐसे सुविधापूर्ण स्थल पर है जहाँ से वह विश्व की व्यापक अव्यवस्था के परिदृश्य का अवलोकन कर सकता है।

इस नये युग की इस नयी अवस्थिति का वाहन, उसकी अभिव्यंजना का माध्यम उपन्यास ही क्यों है, कविता, नाटक या निरे दार्शनिक प्रबंध क्यों नहीं? क्योंकि परिस्थितियों के आधुनिक निरूपण का एक अंग यह भी है कि इस स्थिति को जीवित विस्तार में (इन द फ़ील्ड) ही दिखाना चाहिए। ये सब समस्याएँ और परिस्थितियाँ किस प्रकार जीवन-व्यापार को प्रभावित या निरूपित करती हैं, इसी का अध्ययन होना है और जीवन-व्यापार तो उपन्यास का विषय है ही। उपन्यास साहित्याभिव्यंजना का सर्वश्रेष्ठ आधुनिक माध्यम है क्योंकि वह एक मिश्रित या संगठित माध्यम है – न तो काव्य की भाँति

'शुद्ध' और न नाटक की भाँति सीमित। कवि मूलतः अपने लिए लिखता है, नाटककार मूलतः सामाजिक या दर्शक के लिए। लेकिन उपन्यासकार एक साथ ही कलाभिव्यंजना के कई स्तरों पर विचरण कर सकता है। वह एक साथ ही सबके लिए लिख सकता है : जन-साधारण के लिए ('अमुक घटित हुआ या हो रहा है'), दूसरे लेखकों के लिए ('अमुक विषय-वस्तु को मैंने तो ऐसे लिया है, आप क्या करते, या शेक्सपियर या तुर्गनेव क्या करता?') या स्वयं अपने लिए ('हाँ, यह तो दृष्टिकोण हुआ, समस्या का हल क्या है?') एक साथ कई स्तरों पर अभिव्यक्ति आधुनिक उपन्यास का एक लक्षण है। आन्द्रे जीद का 'जालसाज' (**ले फ़ो मॉनेयर्स**) इस प्रकार के उपन्यास का बहुत रोचक उदाहरण है। रूप-विधान की दृष्टि से यह इधर की महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों में स्थान रखता है। एक साहित्यिक माध्यम के रूप में उपन्यास जो विशिष्ट और अद्वितीय अवसर देता है, उसका इसमें भरपूर उपयोग किया गया है। एल्डस हक्सले, जॉन डोस पैसोस, चार्ल्स मॉर्गन – पश्चिमी साहित्यों से और अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक साथ एकाधिक स्तर पर अभिव्यंजना और दो-तीन अलग-अलग कालों के निर्वाह के हिंदी से एक उदाहरण के रूप में 'शेखर' का नाम लिया जा सकता है। उपन्यास की अच्छाई-बुराई का यहाँ प्रश्न नहीं है, केवल रूप-विधान के एक आधुनिक प्रयोग की बात हो रही है।

यह कदाचित् 'दृष्टिकोण' और 'ढंग' में भेद करना उचित होगा। ऑस्कर वाइल्ड का एक ढंग (पोज़) था जिसे जीवन के प्रति दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। कहा जा सकता है कि ढंग एक 'बनावटी दृष्टिकोण' होता है। और उपन्यासकार उसे तभी ग्रहण करता है जब वह जीवन को सतही नज़र से देखकर उसे लुभावने रूप मे प्रस्तुत करके संतुष्ट हो जाने वाला हो। लेकिन आधुनिक उपन्यासकार वास्तविक जगत् से कहीं अधिक गहरा सम्पर्क रखता है। उसके लिए दृष्टिकोण मनोरंजन या रोचकता का साधन नहीं बल्कि जीने के लिए एक व्यावहारिक दार्शनिक आधार है। जीवन के लिए ऐसा आधार खोजने को वह एक समस्या और कर्त्तव्य के रूप में लेता है और गंभीरतापूर्वक उस समस्या और कर्त्तव्य का सामना करता है। यही उसकी आधुनिक कसौटी है।

संदर्भ

1. 'इट इज़ नॉट एनफ़ टुहैव कनविक्शन्स, वन मस्ट आल्सो हैव कनविक्शन।

–ए.एस.एम. हचिनसन, 'इफ़ विन्टर कम्स'

2. 'आइ वांट टु टर्न माइ बैक ऑन द होल ब्लास्टेड पास्ट।'

– डी.एच. लारेंस

3. 'ओ फ़ार ए विंड टु ब्लो इन द डायरेक्शन ऑफ़ टाइम एंड कैरी मी अवे!'

– डी.एच. लारेंस

7. उपन्यास की भारतीय विधा

अज्ञेय

साहित्य के 'राष्ट्रीय' रूप में मेरी कोई दिलचस्पी नही है। क्यों हो? राष्ट्रीयतापरक साहित्य हो सकता है, विभिन्न समयों पर उसकी ज़रूरत भी हो सकती है और यह भी हो सकता है कि समूचे देश समाज की मुख्य संवेदना का प्रतिबिम्बन और वहन करते हुए साहित्य राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित हो। जिस देश-समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो, जो राष्ट्रत्व के लिए छटपटा रहा हो, उसका साहित्य इस अकुलाहट को व्यक्त करे, इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा? पर क्या वैसा होने से ही हम कह सकेंगे कि वह राष्ट्रीय साहित्य है?

भारतीय साहित्य – हाँ। क्योंकि वह एक भारतीय संवेदना का वाहक हो सकता है – ऐसी संवेदना, जिसके मूल में वैसे मूल्य हैं जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास और अनुभव की उपलब्धियाँ हैं, ऐसी संवेदना, जिसकी अभिव्यक्ति मिलने पर हर भारतीय अनुभव करेगा कि उसी को अभिव्यक्ति मिली है।

साहित्य-विधाएँ : क्या उनके साथ ही हम देशवाची विशेषण लगा सकते हैं? इस अर्थ में क्या 'भारतीय उपन्यास' की बात कर सकते हैं?

प्रश्न पूछता है और सोचने के लिए रुक जाता हूँ।

भारतीय भाषाओं के बहुत से उपन्यासों का अध्ययन-विश्लेषण करके हम कुछ सामान्य धारणाएँ उनके गुण-दोष या विशिष्ट प्रवृत्तियों के बारे में बना लें और कहें कि अमुक-अमुक बातें भारतीय उपन्यास में पाई जाती हैं – या इसी बात को उलट कर कहें कि जिस उपन्यास में अमुक-अमुक हों वह भारतीय उपन्यास है – तो वह कहना संगत हो सकता है, उससे भारतीय उपन्यास के अध्ययन के लिए कुछ प्रकाश भी मिल सकता है।

पर यह कहने में कि 'भारतीय उपन्यास' नाम सार्थक हो सकता है, और यह कहने में कि उपन्यास-विधा में एक विशेष रूप-संघटना है जिसे भारतीय उपन्यास-रूप कहा जा सकता है, काफ़ी अंतर है। विधा और रूप में भेद करना चाहिए : रूपाकार के साथ कोई देश अथवा जाति-वाचक विशेषण लग सकता है या नहीं यह सोचने की बात है। अगर रूपाकार एक सौंदर्य-तत्व है तो उसे राष्ट्रीयता का अतिक्रम करना चाहिए – अतिराष्ट्रीय होना चाहिए। किसी कृति–उपन्यास-कृति – में या तो रूपाकार है या नहीं; जातिवाचक विशेषण से वह कलावस्तु नहीं बन जाएगी, और अगर कला-कृति है तो ऐसे बिल्ले की उसे ज़रूरत क्या है?

शैलियाँ, पद्धतियाँ, शिल्प, तन्त्र-रूपाकार को रूपायित और रूप-बोध का सम्प्रेषण करने के लिए इनके विभेद हो सकते हैं, पर तन्त्र स्वयं रूपाकार नहीं है।

तन्त्र के साथ भी विशेषण की क्या आवश्यकता है, क्या आत्यन्तिक महत्व है? केवल ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से उसकी सार्थकता या प्रयोजनीयता हो सकती है, कोई विशेष तंत्र किसी विशेष देश-काल की उपज हो सकता है, किसी युग या समाज-विशेष की संवेदना का वहन करने का विशेष सामर्थ्य रख सकता है।

भारतीय उपन्यास की चर्चा इसी संदर्भ में सार्थक हो सकती है।

उपन्यास मूलतः एक कालबद्ध रचना है। काल में घटित का ही रूपयुक्त वृत्तान्त उपन्यास है। इसलिए अगर काल-बोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप

भी भिन्न होगा : अगर उपन्यास-रूप विशिष्ट है तो काल-बोध भी विशिष्ट होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में आख्यान का अगर कोई विशिष्ट रूपाकार है जिसे भारतीय प्रतिभा का अनन्य उपज माना जा सके तो वह **श्रृंखलाबद्ध कथा** या **कहानी-के-भीतर-कहानी** ही है। **हितोपदेश-पंचतन्त्र** इसके प्राक्तन रूप हैं। **कथा-सरित्सागर, ईसप की कहानियाँ, अलिफ़ लैला, बैताल-पचीसी** और **सिंहासन बत्तीसी, डेकामेरॉन** और **तोता-मैना** उसी श्रृंखला की कड़ियाँ हैं। सम्बद्ध वृत्तों-दृष्टांतों के द्वारा ठोस व्यावहारिक ज्ञान-दर्शन की, परंपरा के रक्षण, प्रचार और प्रसार की ऐसी कथाएँ तो सारे संसार मे मिलती हैं, पर यह मानना संगत है कि एक सुष्ठु और परिपक्व, परिमार्जित साहित्यिक विधा के रूप में इसका विकास बिशिष्टतः भारतीय है। मैं समझता हूँ कि आख्यान या उपन्यास-साहित्य में किसी रूपाकार को हम वास्तव में भारतीय कह सकते हैं तो वह यही है।

आधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है। हर भारतीय भाषा में उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है और इस बात को आगे तक बढ़ाकर भी कह सकते हैं। आधुनिक काल भी पश्चिमी काल है। ऐतिहासिक काल के साथ ऐतिहासिक उपन्यास का विकास हुआ, फिर कालबोध के खंडित, कालाणुपरक, निर्व्यक्तिक होने के साथ-साथ उपन्यास में भी वही चीज़ प्रकट हुई : खंडित बोध के, क्षण-गत जीवन के, निर्व्यक्तिक, 'अनुभूति' के उपन्यास अत्याधुनिक (पश्चिमी) काल-बोध के साथ अनिवार्यतः बँधे हैं।

यह दूसरी बात है कि पश्चिम से जो हमने पाया है, उसमें हम दोबारा ऐसे भी तत्व पहचानें जो हमारे अपने थे : जो हमने दिये पर, मूर्ख दाता होने के कारण, देने में गँवा दिये; देकर संपन्नतर नहीं हुए।

श्रृंखलित कथा की जड़े दो हैं।

पहली तो यह कि वह व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान की भूमि लोक-जीवन में खोजती और पाती है : उस ठोस, 'सयाने' सफलतापरक (प्रैग्मैटिक) चलती-

का-नाम गाढ़ी कोटि के व्यावहारिक ज्ञान की, जिसके सहारे हमारा दैनन्दिन जीवन चलता है – उस समय भी जब हम उच्चतर क्षेत्रों के सपने देख रहे होते हैं या गहनतर विषयों की थाह ले रहे होते हैं।

दूसरी यह कि उसका काल-बोध पश्चिम से न केवल पृथक् है बल्कि अभी कुछ काल पहले तक पश्चिम के लिए दुर्बोध और अगम्य रहा है। पश्चिमी नाटकीय संदर्भ की काल की एकता का भारतीय संदर्भ में कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि भारतीय दृष्टि में सब काल सहवर्ती हो सकते थे।

पश्चिमी शार्ट-स्टोरी और भारतीय कथा में ये दो अलग-अलग काल-बोध प्रतिबिम्बित और परिलक्षित होते हैं; उसका काल-बोध ऐतिहासिक, ऋजुरेखानुसारी, अप्रत्यावर्त्य है। 'हो चुके' पर 'हो रहा' वरीयता पाता है, और हर घटना का एक अंत होता है, परिणति होती है, भारतीय कथाकार या किस्सागो इत्मीनान में है, मज़े-मज़े चलता है, उसकी दृष्टि संग्राहक है; उसका काल-बोध सांस्कृतिक और वृत्तानुसारी है। उसमें आना और जाना तो है, पर अन्त या चुक जाना नही है। जो हो चुका है, वह घटित के नाते ही निरंतर घटमान है। न कोई आदि है, न अन्त है।

मैं तो भारतीय लेखक हूँ न? न्यूनाधिक भारतीय -- जैसा कि मेरा देश ही न्यूनाधिक भारत है! और मैं न्यूनाधिक आधुनिक लेखक भी हूँ – जिसका अभिप्राय यह है कि मैं उन नाना प्रभावों के प्रति खुला हूँ जो राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए आते हैं।

इस प्रकार मैं आधुनिक विधाओं में रचना करता हूँ, पर उसी रूप में जिस में एक भारतीय वैसा कर सकता है।

तो मैं कह सकता हूँ कि मेरा काल-बोध भी दोहरा है–बल्कि दोहरे से कुछ अधिक, क्योंकि मैं दो प्रकार का काल-बोध स्वीकार करके उनका परस्पर विरोध निराकृत करना चाहता हूँ।

इस विशेष परिस्थिति का भी प्रतिबिम्ब आज भारत के उपन्यास में हो सकता है : उसके लिए विशिष्ट तन्त्र का आविष्कार या विकास हो सकता है। होगा,

तो जिस सीमा तक होगा या जिस मात्रा में होगा उसी में या उसी तक हम एक भारतीय रूपाकार की बात कर सकेंगे। पर वैसा करके भी हम उसे किसी दूसरे राष्ट्रीय या जातीय रूपाकार की प्रतिस्पर्द्धा में नहीं रखेंगे – यही कहना होगा कि वह उपन्यास मात्र को एक देन है : उपन्यास मात्र की श्रीवृद्धि उससे होती है।

8. उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म

निर्मल वर्मा

अर्से से हम यह अफवाह सुनते आए हैं कि उपन्यास ने अपना चोला छोड़ दिया है, लेकिन हजारों की संख्या में उपन्यास अब भी लिखे जाते हैं। शायद ही किसी विधा को मरने में इतना समय लगा हो जितना उपन्यास को! यद्यपि उसकी मृत्यु की भविष्यवाणियाँ समय-समय पर होती रहती हैं, फीनिक्स की मानिंद हर बार वह अपनी मृत्यु की राख झाड़कर पुनः उठ खड़ा होता है। लेकिन यह भी हो सकता है कि शायद अफवाह सच है और उपन्यास सचमच मर गया है, जैसा हम उसे अभी तक जानते आए थे। डिकेंस, फ्लोबेर, तोल्स्तोय, दोस्तोएवस्की की रक्त-मांस मंडित प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, सांसारिक महत्वाकांक्षाओं में लिथड़ी गाथाएँ जिन्हें आज तक हम उपन्यास की संज्ञा देते*आए थे, हमारे समय तक आते-आते वे एक अंधी गली में गुम हो गई हैं, अपने पीछे एक भी ऐसा सुराग नहीं छोड़ गई हैं, जिन्हें पकड़कर उपन्यास की पुरानी गौरवगरिमा को उजागर किया जा सके। अब हम जिन पुस्तकों को उपन्यास के बहाने पढ़ते हैं, क्या वे उसकी मृत काया की महज प्रेत-छायाएँ हैं?

देखा जाए तो उपन्यास हमेशा से तकलीफ में था और जितना अधिक वह फलता-फूलता गया, उसके भीतर की अदृश्य तकलीफ भी बढ़ती गई। वह आत्म-चेतना की तकलीफ थी, जिसने अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के

यूरोपीय मानस को एक विशिष्ट और असाधारण मनोस्थिति में ढाला था। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था कि मनुष्य सिर्फ एक व्यक्ति में बदल जाए और समाज एक ऐसी भीड़ में, जिसका अपना कोई चेहरा नहीं। मनुष्य का एक व्यक्ति में सिकुड़ जाना और दूसरी तरफ समाज का एक हद तक फैल जाना, जहाँ व्यक्तित्वहीनता ही उसका संस्कार हो--उपन्यास की तकलीफ इन दो पाटों के बीच फँसे मनुष्य की बदहवासी, लक्ष्यहीनता और अकेलेपन को प्रतिबिंबित करती थी।

मनुष्य क्या है? यह सनातन प्रश्न है और एपिक, कविता, नाटक जैसी सनातन (क्लासिक) विधाओं में इस प्रश्न को अनेकानेक स्तरों पर उघाड़ा गया था, किंतु व्यक्ति क्या है। इस प्रश्न के साथ सीधी-सीधी पहली मुठभेड़ उपन्यास ने की थी। व्यक्ति जो चाहे किसी भी वर्ग, संप्रदाय, धर्म या परिवार का सदस्य क्यों न हो, किंतु जिसकी प्रामाणिकता उसकी सदस्यता (belonging) में नही उसके होने (being) में निहित होती है। व्यक्ति जो अपने को 'व्यक्त' करता है और व्यक्त करने के दौरान ही अपने होने का प्रमाण देता है। पहले उसके प्रमाण-पत्र में दूसरों के हस्ताक्षर होते थे, वे उसके होने के साक्षी थे। माता-पिता, वर्ग-जाति और सबसे ऊपर ईश्वर, वे थे इसलिए वह था, उनके बिना वह कुछ नही था -- महज शून्य। समाज में व्यक्ति की अवधारणा ही एक अभूतपूर्व घटना या चाहें तो कहें दुर्घटना थी -- क्योंकि उसके होने के सबूत में सिर्फ उसका मैं था' और ईश्वर और न्याय और नियम की अदालत में मैं की शिनाख्त स्वयं 'मैं' कैसे कर सकता है? इसलिए व्यक्ति के अस्तित्व पर शुरू से ही संदेह की छाया पड़ चुकी थी। उपन्यास ने पहली बार ऐसे व्यक्ति की गवाही लेने का प्रयास किया था जो अपने लिए इस दुनिया में किसी को साक्षी नहीं बना सकता था। नंगा और निरीह व्यक्ति, संपूर्ण रूप से स्वतंत्र और संपूर्ण रूप से संदिग्ध, असंख्य संभावनाओं में खुला हुआ और हर संभावना को अंतिम परिणति तक पहुँचाने की जिम्मेदारी ढोता हुआ। वह कुछ भी हो सकता था -- संत, हत्यारा, शैतान। दोस्तोएवस्की का यह कथन कि यदि ईश्वर नहीं है तो मनुष्य कुछ भी कर सकता है, न केवल व्यक्ति के जोखिम भरे संसार को उद्घाटित करता है,

बल्कि उस संसार की अंतहीन अराजकता को भी रेखांकित करता है, जिसे उपन्यास ने अपनी विधा के घेरे में पहली बार समेटा था। उपन्यास की तकलीफ बहुत कुछ व्यक्ति के जन्म होने की प्रसव पीड़ा से जुड़ी हुई थी।

व्यक्ति की जिस अंतरात्मा को उपन्यास ने अपना केंद्र-बिंदु बनाया था, उसी चीज़ ने उपन्यास को कथ्यात्मक बिरादरी की अन्य समस्त विधाओं से अलग भी कर दिया। एपिक, आख्यायिका दंतकथा, फेबल, लोकथाएँ, किस्से-कहानियाँ – ऊपर से देखने पर लगता है कि उपन्यास इन्हीं प्राचीन कथ्यात्मक शैलियों की आधुनिक और परिष्कृत उत्पत्ति है। इस भ्रम का कारण शायद यह है कि उपन्यास और इन कथ्यात्मक शैलियों में यदि एक चीज़ समान रहती है तो वह है -- कहानी। ये समस्त कथ्यात्मक विधाएँ किसी-न-किसी रूप में कोई किस्सा-कहानी सुनाते हैं; लेकिन क्या उपन्यास सिर्फ कहानी सुनाने का माध्यम है? यदि ऐसा होता तो उपन्यास जैसे विशिष्ट फॉर्म को अन्वेषित करने की क्या आवश्यकता थी – मनुष्य की कहानी को अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरातन-काल से चलती आई कथ्यात्मक शैलियाँ काफी नहीं थीं? काफी नहीं थीं, क्योंकि किस्सागो के सुरक्षित संसार में जो मनुष्य बसता था, उपन्यास का व्यक्ति उस संसार की हदों से कहीं दूर जा पड़ा था। पुरातन कथा-शैलियों में हमें कितने पात्र याद रहते हैं? एक राजा था – कहानी यहाँ से शुरू होती है; कौन-सा राजा? यह अप्रासंगिक है...क्योंकि राजा और रानी और राक्षस और पक्षी हमारे पुरातन -- लैंडस्केप की आर्कीटाइप स्मृतियों को उघाड़ते हैं – वे सार्वभौमिक हैं, अटल हैं; कहानी शुरू होते ही वे कठपुतलियों की तरह नाचने लगते हैं।

लेकिन मदाम बॉवेरी? हम उसके बारे में क्या जानते हैं? उपन्यास पढ़ने के बाद जो याद रह जाता है वह मदाम बॉवेरी की कहानी नहीं, जो हजार औरतों की कहानी हो सकती है, बल्कि वे हजार घटनाएँ जिनके अद्भुत और अप्रत्याशित सम्मिश्रण से एक मदाम बॉवेरी का जन्म हुआ था, एक स्वतंत्र स्त्री, जिसके अपने संकल्प और अपने स्वप्न थे। उपन्यास से पहले की कथ्यात्मक विधाओं में पात्रों पर घटनाएँ घटती हैं, किंतु उपन्यास में व्यक्ति-पात्र अपनी इच्छाओं और संकल्पों से किसी-न-किसी रूप में इस घटना-चक्र

में अपना हस्तक्षेप करना चाहते हैं, इसमें वे असफल हों, पराजित हों, घटनाओं के रथ-तले कुचले जाएँ, यह बात दूसरी है – बल्कि यही बात उपन्यास को कहानी-किस्सों से अलग करती है; उपन्यास भी कथ्यात्मक विधा है किंतु वह कहानी कहने का शुद्ध माध्यम नही है। डॉन क्विग्ज़ॉते और मदाम बॉवेरी के स्वप्नों और*सांसारिक घटना-चक्र की अनिवार्य लौहवत्ता के बीच एक तनाव-भरा द्वंद्व बराबर चलता रहता है। एक द्वंद्वात्मक टकराव – इसीलिए उपन्यास का फॉर्म पुरानी कथा-विधाओं से इतना अलग है। इसीलिए वे आलोचक, जो उपन्यास को विदेशी विधा मानकर भारतीय उपन्यास का उद्धार पुरानी आख्यायिका, लोक-कथाओं और किस्सों की शैली को पुनर्जीवित करने में देखते हैं, शायद समस्या का सीधा-साधा सामना नहीं करते, उपन्यास विदेशी विधा है जरूर, किंतु भारतीय समाज के उलट-फेर में जो व्यक्ति आज आकार ग्रहण कर रहा है क्या पुरानी कथ्यात्मक शैलियाँ उसके विकट, संघर्षमय संसार के बीहड़ अंतर्द्वंद्वों को अपने में समेट पाएँगी, मुझे इसमें संदेह है। क्या यह महज संयोग था कि हजारीप्रसादजी अपनी किस्सागोई गप्प शैली में आधुनिक जीवन पर कोई उपन्यास लिखते हुए हमेशा झिझकते रहे, विदेशी बोझ से छुटकारा दुर्भाग्यवश हमेशा परंपरा में ही नहीं मिलता जब तक स्वयं परंपरागत शैलियों को आधुनिक दबाव-तले पुनर्निर्मित और परिवर्तित नहीं किया जाता। उपन्यास के 'भारतीयकरण' की समस्या को उपन्यास में पहले की सहज और भोली और अपेक्षाकृत सरल स्थिति में लौटकर नहीं सुलझाया जा सकता।

लेकिन एपिक? वह तो सबसे प्राचीन कथ्यात्मक विधा है; कुछ उपन्यासों को पढ़ते हुए हमे क्यों बार-बार होमर या वाल्मीकि याद आते हैं? शायद इसीलिए हेगल ने उपन्यास को 'आधुनिक मध्यवर्ग के महाकाव्य" के रूप में परिभाषित किया था।* जॉयस का यूलिसिस तो अपनी संरचना में ओडिसी के समानांतर

---

*हेगल की इस परिभाषा का अनुकरण करते हुए/किंतु दुर्भाग्यवश उनके प्रति आभार न प्रगट करते हुए/डॉ. नामवरसिंह ने भारतीय उपन्यास को

ही चलता है। दोनों विधाओं की यह समानता अस्वाभाविक भी नहीं है; ऐसे उपन्यास हैं, जो महाकाव्य के पैमाने पर विभिन्न व्यक्तियों के समग्र जीव को एक विराट् भित्तिचित्र की तरह अपने पन्नों पर अंकित करते हैं। यह अकारण नही है कि 'ब्रदर्स कारामाजोव' या 'युद्ध और शांति' या अगर बीसवीं सदी में रचे गए प्रूस्त के रिमेंब्रेंस ऑव् थिंग्स पास्ट को ही लें, उन्हे पढ़ते हुए हमें अनायास – क्लासिक युग में रचे महाकाव्यों या आइसलैंडी सागा-ग्रंथों की याद हो आती है – जन्म से मृत्यु तक मनुष्य के संपूर्ण जीवन की गाथाएँ, जिंदगी का विराट् समंदर, जिसमें हर उठती लहर और मरते हुए ज्वार के भवसागर को नापा जाता है। ये उपन्यास एपिक की याद ज़रूर दिलाते हैं, किंतु असल में एपिक की संभावनाओं को छूते-छूते रुक जाते हैं, कुछ छोटे पड़ जाते हैं – इसलिए नहीं कि तोल्स्तोय या प्रूस्त की यथार्थ की पकड़ कहीं ढीली हो जाती है या उनकी अथक सृजन-ऊर्जा कहीं बीच में मंद पड़ जाती है, बल्कि इसलिए कि जिस समूचे मनुष्य की विराट्-सृष्टि को एपिक एक समय में चित्रित करते थे, वह आधुनिक समाज तक आते-आते खंडित व्यक्तित्वों में ही इतने भयानक ढंग से बिखर गया है कि उपन्यास उसे

'किसान-जीवन का महाकाव्य' माना है। यह परिभाषा कितनी भ्रामक है, मैं उस बहस में यहाँ नहीं जाना चाहूँगा। सिर्फ इतना कह देना काफी है कि जबकि हेगल के सामने बूर्ज्वा वर्ग के विकास का समूचा भविष्य फैला था, वहाँ भारतीय किसान का वह अंधकारमय--मार्क्स के शब्द में कहें, तो मैलनकोलिक भविष्य डॉ. नामवरसिंह नहीं देख पाते, जहाँ भूमि से उन्मूलित होकर भारतीय किसान का वर्ग-संस्कार = उसका 'किसानत्व' ही संकट में पड़ गया है। प्रेमचंद ने अपने अंतिम उपन्यास और कहानियों में किसान की 'मैलनकाली'– औपनिवेशिक विषाद को अभिव्यक्त किया था किंतु आज की स्थिति में इस 'विषाद' के लिए भी कोई गुंजाइश नही बची रही है। यदि व्यावसायिक औद्योगिकरण की मार भारतीय किसान पर उतनी ही निमर्मता से पड़ती रही, जिसका दुःस्वप्न मार्क्स ने देखा था, तो अगले कुछ वर्षों में हमें अपने गाँवों में पूंजीवादी फार्मर/जो किसान या peasant नहीं है/या खेतिहर मज़दूर मिलेंगे – किसान नहीं।

केवल नॉस्टॅलिज्या के क्षणों में याद कर सकता है या कभी दुर्लभ क्षणों में पकड़ पाता है – बाकी समय उसे अपना माथा उन दीवारों से फोड़ना पड़ता है तो न केवल हर व्यक्ति को अपने समाज से अलग करती हैं, बल्कि स्वयं उसकी अंतरात्मा में एक फाँक की तरह खिंची रहती है। ऑल्डस हक्सले ने अपने एक बहुत दिलचस्प निबंध 'एपिक और संपूर्ण सत्य' में इस बात को रेखांकित किया था – होमर के महाकाव्यों में कैसे मनुष्य का हर क्षण उसके जीवन की निरंतरता में संपूर्ण बन जाता है। कोई घटना आकस्मिक नहीं है, वह एक समूचे पैटर्न में अर्थ ग्रहण करती है; वह एक तरह का दैवी, पूर्व निर्धारित पैटर्न है, हर चीज़ वैसे ही होगी, जैसे उसे होना है – प्राकृतिक नियमों की तरह अनिवार्य और अर्थसंगत जिसमें पवित्र और सांसारिक, धार्मिक और संसारी सीमाएँ एक-दूसरे में घुल जाती हैं।

उपन्यास में क्यों नहीं ऐसा संभव हो पाता? शायद इसका एक कारण यह है कि उपन्यास शुद्ध रूप से सेक्यूलर विधा है, जिसमें से समस्त देवी, देवताओं, प्रकृति के अलौकिक चमत्कारों और नियाति की भविष्यवाणियों को बहिष्कृत कर दिया गया है। वहाँ सबकुछ व्यक्ति के स्वायत्त स्वेच्छाचारी निर्णयों पर निर्भर है, इसलिए सबकुछ आकस्मिक और सांयोगिक है। बड़े-से-बड़े उपन्यास को पढ़ते हुए क्यों यह तकलीफ मन को कोंचती रहती है कि घटनाएँ नितांत दूसरी तरह से घट सकती थीं कि उनके पीछे ऐसा कोई दैवी या प्राकृतिक सेंक्शन नहीं, जो उन्हें किसी दूसरे क्रम में सँजोने से रोक सकता हो। क्यों यह संदेह मन को सालता रहता है कि यदि अन्ना कैरेनिना चाहती, तो अपने जीवन की घटनाओं के पहिए विपरीत दिशा में मोड़ सकती थीं, उनके क्रम को बदल सकती थीं और इस तरह अपने को आत्महत्या के भयावह अंत से बचा सकती थीं? यह नहीं कि उपन्यास में उसकी मृत्यु विश्वसनीय और अनिवार्य नही जान पड़ती – यही तो सबसे बड़ी विडंबना है – उपन्यास में जो चीज़ सबसे अधिक अनिवार्य और स्वाभाविक जान पड़ती है – जीवन के संपूर्ण प्रवाह में वही चीज़ अचानक सांयोगिक (Contingent) और संदिग्ध-सी बन जाती है। मेरी मैकार्थी ने अपने एक निबंध में लिखा था कि यदि अन्ना केरेनिना व्रान्स्की से स्टेशन पर न मिलती

जो निरा संयोग था – तो उसकी जिंदगी पूर्ववत् अपनी लगी-बँधी पटरी पर चलती रहती। यह भीषण सत्य है। एक आकस्मिक घटना समूचे जीवन की नियति को बदल सकती है। यह बात मदाम बॉवेरी पर लागू नहीं हेती, जो अपनी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए किसी भी प्रेमी के साथ भाग सकती थीं, इस दृष्टि से अन्ना का चरित्र मदाम बॉवेरी से कहीं ज्यादा स्वतंत्र है और उसका प्रेम जितना सांयोगिक है उतना ही संहारकारी। एपिक की घटनाओं और पात्रों की नियति की अनिवार्यता में कहीं प्रकृति का समर्थन और साधुवाद है जो उसे निश्चित और नियामक बनाता है। किंतु उपन्यास की अनिवार्यता एक व्यक्ति एक के ठिठुरते अरक्षित निर्णयों पर निर्भर है, जिसे बाहर की कोई शक्ति–समाज, प्रकृति, ईश्वर – अपना संरक्षण देकर वैध नहीं करार कर सकती। उपन्यास की घटनाएँ कलात्मक रूप से अनिवार्य होने के बावजूद किसी तरह की नैतिक वैधता (legitimacy) या प्राकृतिक क्रमबद्धता प्राप्त नहीं कर पातीं। क्या औपन्यासिक जगत् की इस अराजक अवैधता को देखकर ही तोल्स्तोय ने अंतिम वर्षों में अपने महान् उपन्यासों को इतनी निर्ममता से अस्वीकार नहीं कर दिया था?

व्यक्ति के इस स्वेच्छाचारी और अराजक संसार के भयावह तर्क को काफ़्का अंतिम परिणति तक ले गए, जहाँ मनुष्य को अपराधी तो घोषित किया जाता है किंतु कोई ऐसा नियम या न्यायालय नहीं, जिसके सामने हम यह पता चला सकें कि आखिर उसने कौन-सा ऐसा काम किया है, जिसका अपराध उस पर मढ़ा जा रहा है। दोस्तोएवस्की की अराजक नियमहीनता का संसार – जिसमें व्यक्ति सबकुछ कर सकता है – काफ़्का तक आते-आते अपना पूरा एक चक्र समाप्त कर लेता है, जिसमें व्यक्ति की यही सबकुछ करने की स्वाधीनता ही उसका सबसे बड़ा पाप और अपराध बन जाती है। उनका अंतिम उपन्यास 'कासल' एक दुर्गम अंतहीन, यातनामय खोज है, किसी ऐसे सर्वोच्च अधिकारी (ईश्वर?) को पाने की तलाश, जिसके लॉ, नियम या आदेश के अंतर्गत मनुष्य अपने जीवन की अर्थवत्ता को उपलब्ध कर सके – एक ऐसा ईश्वरीय संदेश जो हमें अंतिम और स्पष्ट रूप से बता सके कि इस धरती पर मनुष्य का दायित्व-धर्म, वोकेशन क्या है? काफ़्का अंतिम

उपन्यासकार थे जो उपन्यास की इतरनैतिक और सेक्यूलर सीमाओं को लाँघकर नियम और धर्म की वैध दुनिया में जाना चाहते थे और लाँघने के इस असंभव प्रयास में दोनों दुनियाओं के बॉर्डर पर ही खत्म हो गए थे। क्या उनका अंत एक अजीब ढंग से हमें वाल्टर बेंजामिन की मृत्य की याद नहीं दिलाता जो नात्सी यूरोप के अधर्म से छुटकारा पाने के लिए लोकतंत्र की धमर्सम्पन्न व्यवस्था में जाना चाहते थे और जिन्होंने घोर हताशा में धर्म और अधर्म की अंतिम सीमा पर ही आत्महत्या कर ली थी?

यह वह क्षण था, जब पहले-पहल यूरोप में उपन्यास—या ज्यादा सच्चाई से कहें तो यूरोपीय उपन्यास की मृत्यु की अफवाह सुनाई देने लगी थी। ध्यान से देखें तो पश्चिमी संस्कृति का यह क्षण ठीक वही था जब पहली बार यूरोपीय समाज में व्यक्ति की मृत्यु की चर्चा भी शुरू होने लगी थी – एक ऐसा व्यक्ति – जो अकेला और आरक्षित होने के बावजूद अपनी भावनाओं और विचारों में स्वाबत था, राज-सत्ता और जन-समूह से अलग अपनी विशिष्ट इकाई पहचानता था : आत्म-केंद्रित लेकिन स्वाभिमानी व्यक्ति जिसकी छवि को यूरोप के रोमैंटिक-साहित्य में अनेक लेखकों ने उकेरा था। किंतु उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में जिस औद्योगिक, नगर सभ्यता का अभ्युदय हुआ, उसने एक ऐसी भीड़ को जन्म दिया दिया, जिसकी क्षुद्र बाजारू रुचियों को देखकर फ्लोबेर इतना आतंकित हुए थे; जन के नाम पर जिस चेहराहीन, दृष्टिहीन, रुचिहीन व्यक्तियों की भीड़ ने भेड़ों की तरह यूरोपीय नगर को घेरा था, उससे बचने के लिए फ्लोबेर ने अपने एकांत कमरे में शुद्ध कला की साधना में ही जीवन की अर्थवत्ता खोजनी चाही थी; पहली बार कलाकार के स्वतंत्र और स्वायत्त व्यक्तित्व पर संकट की छाया मँडराने लगी थी; स्वयं व्यक्ति का रोमैंटिक उज्ज्वल चरित्र एक औसत आदमी की सपाट और सतही और यंत्रचालित, दुनिया में अपनी वैयक्तिक विशिष्टता खोने लगा था।

पहले महायुद्ध के बाद व्यक्ति का यह संकट इतना गहरा हो चुका था कि स्पेनिश चिंतक और दार्शनिक जोंस ऑर्तेगाई गास्से ने अपनी पुस्तक 'द रिवोल्ट ऑव् द मासेज' में पहली बार यूरोप के व्यक्ति का 'भीड़ के मनुष्य'

(mass man) में कायाकल्पित होते देखा था, और यह भयावह कायाकल्प था – क्योंकि भीड़ का मनुष्य रेनेसेंस के विलक्षण और विशिष्ट गरिमा संपन्न मनुष्य और उन्नीसवीं शती के रोमैंटिक हीरो की अनोखी विशिष्टता से स्खलित होकर व्यक्ति के सबसे औसत, निम्नतम आत्मसंहारी और संवेदन-शून्य संस्करण में बदल गया था, एक आत्महीन मनुष्य, जिसने अपने व्यक्तित्व को एक असहाय बोझ मानकर भीड़ की अमानवीय सत्ता के हवाले कर दिया था। स्वतंत्रता का दर्द और सोच अब उसे नही मथता था, एक सोचहीन मनुष्य, जो अपनी अंतिम परिणति में हमें काम्यू के आउटसाइडर की याद दिलाता है, खाने-पीनेवाला व्यक्ति, जो अपनी माँ की मृत्यु के दूसरे दिन ही स्विमिंग-पूल में तैरने जाता है, अपनी प्रेमिका के साथ सोता है और जिसे ठीक-ठीक याद भी नही रहता कि उसकी माँ की मृत्यु कब हुई थी, कल या परसों? ज़रा कल्पना कीजिए दोस्तोएवस्की के नोट्स ऑव् द अंडरग्राउंड के विक्षिप्त, बदहवास, घृण, प्रेम, आत्म-जुगुप्सा और नैतिक-अनैतिक प्रश्नों की दलदल में कलपता आउटसाइडर काम्यू के अजनबी तक आते-आते कैसे एक उदासीन, दैनिक कार्य-कलापों में डूबे भावशून्य रोबो में बदला गया है? काम्यू का नायक इसलिए अजनबी नहीं है कि समाज से अलग अपनी भावनाओं या आदर्शों में विशिष्ट है – उन्नीसवीं शती के निहिलिस्ट, विद्रोही आउटसाइडर की तरह – बल्कि इसलिए कि उसका व्यवहार शुद्ध रूप से आज के 'भीड़ मनुष्य' का स्वाभाविक चरित्र है – हम सबका चरित्र – किंतु जहाँ हम अपनी – भावशून्यता और आध्यात्मिक दिवालिएपन को अपने छद्म सरोकारों और संसारी नैतिकता की काई तले छिपाए रहते हैं, काम्यू का हीरो हमें इसलिए अजनबी लगता है क्योंकि उसने इस काई को अपन ऊपर से उतारकर अपने को जस-का-तस प्रस्तुत कर दिया है; एक औसत, दैनिक और आयामहीन पुरुष; दोस्तोएवस्की का नायक अपनी आत्मा के अंडरग्राउंड अँधेरे में आउटसाइडर था, काम्यू का अजनबी ऊपर सतह की रोशनी में घूमता-फिरता नगर की भीड़ का एक ऐसा टिपिकल प्राणी है जो अपने औसतपन की चरमावस्था के कारण भयावह-सा जान पड़ता है; पहला दूसरों के औसत संसार से अलग छिटककर अपनी आत्मा की अनंत परतों को छीलता है, दूसरा भीड़ के अनंत समूह के बीच

एक औसत इकाई है, जिसकी आत्मा शून्य की अथाह परतों के नीचे दबी है। लगता है, जैसे इन दो उपन्यासों के बीच यूरोपीय मनुष्य ने व्यक्तित्व के चरम बोझ से व्यक्तित्वहीनता के चरम हल्केपन तक ही पीड़ित यात्रा तय की है। उपन्यास विधा, जिसका जन्म ही व्यक्ति की विशिष्ट अवधारणा से जुड़ा था, यदि हमारे समय की घोर व्यक्तित्वहीनता तक आते-आते अपने को इतना थका और क्लांत और संभावना-शून्य पाए, तो क्या। यह आश्चर्य की बात होगी?

यूरोप में व्यक्ति की यह परिणति, 'सबकुछ' से 'कुछ नहीं' तक की यात्रा क्या अनिवार्य थी? इस प्रश्न को थोड़ा-सा बदलकर ऐसे भी पूछ सकते हैं कि जिस समाज में व्यक्ति की अवधारणा मनुष्य के सर्व-सत्ता संपन्न और आत्म-केंद्रित अहम् (ईगो) से शुरू होती है, उसका अंत यदि इस अहम् के आत्मसंहार में हो, एक खंडित और खोखला अहम्, तो यह क्या अस्वाभाविक बात होगी? एक ऐसी संस्कृति में, जहाँ आत्मा और अहम्, ईगो और सेल्फ के बीच कोई स्पष्ट अंतर न हो, जहाँ एक को दूसरे के साथ उलझाया जाता रहा हो, वहाँ मनुष्य अपने अहम् का अतिक्रमण करके अपनी आत्मा के साक्षात्कार करने का जोखिम नहीं उठाता। बल्कि अहम् के बोझ से छुटकारा पाने के लिए स्वयं अपने सेल्फ को ही नष्ट कर डालना चाहता है। बीसवीं शती के उत्कृष्ट उपन्यासों में इस खोए हुए सेल्फ, इस लुप्त आत्मा को पाने की छटपटाहट ज़रूर दिखाई देती है, जिसके बिना कोई भी व्यक्ति अपनी अस्मिता, अपनी पहचान, धरती पर अपने होने का अर्थ परिभाषित नहीं कर सकता। सॉल बैलो के पात्र हरजोग का कॉमिक ट्रैजिक संघर्ष यही है कि बीसवीं शती औद्योगिक दुनिया में अपनी असली पहचान, अपने सही रोल, अपनी आत्मा के नक्शे को निर्धारित कर सके क्योंकि वह जिस दुनिया में रहता है, वहाँ लोगों की अथाह भीड़ तो है, असंख्य अहमों का कुलबुलाता समूह, किंतु स्वयं व्यक्ति का सेल्फ, उसका अपनी आत्मा से संबंध इतना धूमिल और संदिग्ध बन गया है, कि यह पता लगाना भी असंभव बन गया है, कि उसका अपना स्वयं कितना उसका अपना है, कितना दूसरों से उधार लिया हुआ, दूसरों द्वारा अनुशासित। हरजौग अंधी गली के जिस अंतिम मोड़ पर पहुंच गए हैं, वहाँ यदि एक तरफ हमें यूरोपीय उपन्यास का डेड एंड

दिखाई देता है, तो दूसरी तरफ वह कुंजी भी मिल जाती है, जो मनुष्य के अँधियारे मन, अहम् की परतों तले दबे आत्मन् का ताला खोल सके, जिसके दरवाजे एक दूसरी दुनिया की तरफ खुलते हैं।

कैसी है यह दुनिया, जो यूरोपीय उपन्यास के अहम्-केंद्रित संसार से मुड़कर हमें एक ऐसे मन से साक्षात् कराती है, जहाँ अहम् के भयभीत आक्रामक साम्राज्य की सीमाएँ खत्म हो जाती है, एक ऐसे सेल्फ के दरवाजे खोलती है, जिसके भीतर व्यक्ति का मन इड, ईगो, सुपर-ईगो जैसे अँधेरे तहखानों में बँटा नहीं है, बल्कि जहाँ मन, आत्मा और देह एक संपूर्ण सृष्टि के मिनिएचरों में स्वयं मनुष्य के भीतर अखंडित रूप से मौजूद है। क्या हम इसे 'भारतीय मन' की दुनिया कह सकते हैं? मुझे नहीं मालूम, किंतु अवश्य ही यह वह दुनिया नहीं है, जिसका चित्र हमें आज तक यूरोपीय उपन्यासों में उपलब्ध होता रहा है। फिर कैसा है यह संसार, जिसके भीतर इस मन का संस्कार बसा है, जिसके तंतुओं से स्वयं इस मन का टेक्सचर बना है? यूरोपीय उपन्यास की अहम्-आक्रांत दुनिया से निकलकर यदि हम इस अनोखे मन, मनुष्य के आत्मन्-संस्कार में प्रवेश करने का अवसर मिल सके तो हमें सहसा लगेगा मानो हम इकाइयों की दुनिया से निकलकर संबंधों की दुनिया में चले आए हैं। यहाँ सब जीव और प्राणी एक-दूसरे में अंतर्गुंफित हैं, अन्योन्याश्रित हैं, न केवल वे प्राणी जो प्राणवान हैं, बल्कि वे चीज़ें भी जो ऊपर से निष्प्राण **(inanimate)** दिखाई देती हैं। इस अंतर्गुंफित दुनिया में चीजें आदमियों से जुड़ी हैं, आदमी पेड़ों से, पेड़ जानवरों से, जानवर वनस्पति से, और वनस्पति आकाश से, बारिश से, हवा से। एक जीवंत, प्राणवान, प्रतिपल साँस लेती, स्पंदित होती हुई सृष्टि – अपने में संपूर्ण सृष्टि जिसके भीतर मनुष्य भी है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य सृष्टि के केंद्र में नहीं है, सर्वोपरि नहीं है, सब चीज़ों का मापदंड नहीं है; वह सिर्फ संबंधित है और अपने संबंध में वह स्वायत्त इकाई नहीं है, जिसे अब तक हम व्यक्ति मानते आए थे, बल्कि वह वैसे ही संपूर्ण है जैसे दूसरे जीव अपने संबंधों में संपूर्ण हैं, जिस तरह मनुष्य सृष्टि का ध्येय नहीं है उसी तरह मनुष्य का ध्येय व्यक्ति होना नहीं है, हम साधन और साध्यों की दुनिया से निकलकर संपूर्णता की दुनिया में आ जाते हैं। मनुष्य की समग्रता का यह अद्भुत साक्षात हमें मार्कुएज़ के

उपन्यास 'One hundred years of solitude' में मिलता है, इसलिए वह यूरोप के व्यक्ति-केंद्रित या व्यक्तिहीन उपन्यास से इतना अलग जान पड़ता है। यूरोपीय मनुष्य का ज्वर, जो व्यक्ति के अलगाव और अकेलेपन के कारण उपन्यास की मर्मांतक तकलीफ बनकर प्रगट हुआ था, संबंधों की इस परिकल्पना में अपने आप नष्ट हो जाता है, घुल जाता है। हेगल ने जहाँ व्यक्ति की अस्मिता दूसरों के विरुद्ध – अन्य के खिलाफ – परिभाषित की थी, वहाँ उसके विपरीत संबंधों की दुनिया में विवेकानंद बिलकुल दूसरे कोण से व्यक्ति को आँकते हैं, 'व्यक्ति का जीवन संपूर्ण के जीवन में बसा है, उसका सुख संपूर्ण के सुख में निहित है, संपूर्ण के बिना व्यक्ति की परिकल्पना असंभव है। यह ऐसा शाश्वत सत्य है, जिसकी आधार-शिला पर समूचा विश्व टिका है। इस अनंत संपूर्ण की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होना, उसके प्रति अगाध सहानुभूति और समानता महसूस करना, उसके सुख में सुखी और उसकी यातना में दुखी अनुभव करना – यही व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य है। यह केवल उसका कर्तव्य ही नहीं है, बल्कि उसके उल्लंघन में उसकी मृत्यु है।'

विवेकानंद ने व्यक्ति की मृत्यु के बारे में जो चेतावनी उन्नीसवीं शती के अंत में दी थी, हमारी शती की ढलती घड़ियों में वह एक साक्षात् और एक क्रूर सत्य बनकर हमारे सामने खड़ी हो गई है। आज के उपन्यास को इस मृत्यु का सामना करना है और वह यह किसी सरलीकृत शार्ट कट से नहीं कर सकता, न भारत की पुरानी कथ्यात्मक शैलियों में जाकर उसे चित्रित किया जा सकता है, न ही उसे उन्नीसवीं शती में रचित उपन्यास के चौखटों में ही बंद किया जा सकता है व्यक्ति जहाँ सर्वोपरि था। उसका सामना केवल मनुष्य के आत्मन्-व्यक्तित्व, उसके सेल्फ को पुनर्भाषित करने की दुर्गम और बीहड़ प्रक्रिया में ही संभव हो सकेगा। दूसरे शब्दों में, हम जिस नए उपन्यास की परिकल्पना करते हैं, वह पश्चिम के यथार्थवादी, विक्टोरियन उपन्यास से तो भिन्न होगा ही, किंतु वह परंपरागत अर्थों में भारतीय मन का उपन्यास ही होगा, यह कहना असंभव है, जबकि हम इस मन को ही संस्कारगत संस्कृति के संकट के संदर्भ में पुनर्परीक्षित नहीं करते। जाहिर है, उपन्यास की यह परिकल्पना व्यक्ति के खंडित ईगो का अतिक्रमण करके, उसे वैसी संपूर्ण

स्थिति में देखने से शुरू होगी, जिसमें वह समानता और सहानुभूति के संवेदात्मक स्तर पर पुनः अपना रिश्ता आसपास फैली सृष्टि से जोड़ सके – स्वयं उसके बीच जीवित रहने की भूली हुई मर्यादा को याद रख सके, इस याद को एक ऐसी कलात्मक स्पेस में अभिव्यक्त कर सके, जो स्मृति भी है, इतिहास भी, जादू भी, माया और यथार्थ की लीला भी, पुरुष और प्रकृति के बीच एक नए पुराण की रचना जो हमें एक तरफ बार-बार अपनी पुरानी कथ्यात्मक विधाओं की याद दिलाएगी – महाकाव्य लोककथाएँ, परीकथा, इंद्रजाल, तो दूसरी तरफ उसमें हमें पश्चिमी उपन्यास के वे सर्वोत्तम, दुर्लभ क्षण भी याद आते रहेंगे, जब व्यक्ति ने अपने अंतर्मन की अंधेरी गुहा से बाहर संपूर्ण से साक्षात्कार किया था। वह स्वप्न जो ब्रदर्स कारामोजोव में दिमित्री ने मानसिक यंत्रणा के असहनीय क्षण में देखा था, दोस्तों, मैंने एक स्वप्न देखा है, एक वाक्य जो एक कौंध में मनुष्य का समूचा, पीड़ित इतिहास आलोकित कर जाता है या फिर उसे सीधे-सादे किसान की आत्मा में जिसके भीतर तोल्स्तोय और प्रेमचंद ने संपूर्ण सत्य से साक्षात् किया था, या भीतर का वह अंधेरा सूरज, जिसकी रोशनी में लॉरेंस ने बीसवीं शती की मशीनी सभ्यता की समस्त छद्म बौद्धिक अवधारणाओं को भेदकर समूचे ब्रह्मांड से खून का रिश्ता जोड़ा था। पश्चिमी उपन्यास में संपूर्णता की ये झलकें बहुत दुर्लभ हैं, किंतु उनसे साक्षात् किए बिना न तो हम व्यक्ति की पीड़ा समझ पाएँगे, न उसका अतिक्रमण करके नए उपन्यास की राह खोज पाएँगे।

उपन्यास पश्चिम की विधा अवश्य हो, व्यक्ति की पीड़ा – एक व्यक्ति की हैसियत से – हर जगह एक जैसी है। यूरोपीय उपन्यास के चौखटों से मुक्त होकर हम जिस उपन्यास के पुनर्जन्म की परिकल्पना करते हैं, उसमें मनुष्य की देह पर उन सब घावों के निशान होंगे, जिसे व्यक्ति ने अपने पूर्व-जन्म में झेला है, किंतु अब उनकी पीड़ा किसी अन्य के द्वारा या विरुद्ध न हो सृष्टि के उस समूचे अस्तित्व से जुड़ी होगी, जिसके सुख में सुखी और जिसकी यातना में दुखी हुआ जाता है। यहाँ देखना, होना, महसूस करना अलग-अलग खंडों में विभाजित नहीं है, जो हमे फ्रांस के नए उपन्यास में मिलता है, जिसकी व्याख्या रॉब्ब ग्रिये ने की है। रॉब्ब ग्रिये के लिए 'नया उपन्यासकार'

वह है जो चीज़ों को सिर्फ़ देखता-भर है, एक तटस्थ दर्शक की तरह, जिसमें वह अपनी भावनाओं द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं करता। उसके विपरीत जिस उपन्यास की परिकल्पना हम कर रहे हैं, वहाँ हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वहाँ लेखक देखने वाला सब्जेक्ट नहीं है और दुनिया दिखाई देने वाली आब्जेक्ट नहीं है बल्कि दोनों एक-दूसरे के बीच में हैं; मनुष्य दुनिया के बीच में है, प्राणियों में एक प्राणी, जीवों में एक जीव, वह दूसरों को देखता है, तो दूसरे भी उसे देखते हैं, कुछ उसी भाव में जैसे कभी पॉल क्ले ने कहा था - जब कभी मैं जंगल में घूमता हूँ तो मुझे लगता है कि जहाँ मैं पेड़ों को देख रहा हूँ, वहाँ पेड़ मुझे देख रहे हैं।

यह बिलकुल दूसरा संसार है, जहाँ कोई केंद्र नही है, क्योंकि सब केंद्र में हैं, एक चमत्कारी, जादुई दुनिया, जिसका जादू सिर्फ इस छोटे-से सत्य में है कि जीवन की प्राणवत्ता को सेक्यूलर और धार्मिक में विभाजित नहीं किया जा सकता; जो है, वह पवित्र है। दोस्तोएवस्की ने कहा था कि अगर ईश्वर नहीं है, तो मनुष्य सबकुछ कर सकता है, आज हम कह सकते हैं कि अगर व्यक्ति नहीं है, तो मनुष्य सबकुछ हो सकता है, पेड़ और पत्थर और धूप और जंतुओं के जैविक उज्ज्वल संसार में एक जीव – सार्वभौमिक पवित्रता के बीच पवित्रता का प्राण-पुंज। उपन्यास, ए ब्राइट बुक ऑव लाइफ?' (डी.एच. लारेंस) हाँ क्यों नहीं, किंतु भारतीय या यूरोपीय किताब नहीं – बल्कि जीवन की एक संपूर्ण किताब।

9. 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' और भारतीय उपन्यास

नामवर सिंह

कैसी विडंबना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी 'ओरिएंटलिस्ट' कादम्बरी, कथा सरित्सागर, पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं के पीछे पागल थे, स्वयं भारतीय लेखक 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' लिखने के लिए व्याकुल थे। ये हैं उपनिवेशवाद के दो चेहरे!

निस्संदेह कुछ लोग अपनी भाषा में 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' लिखने में कुछ-कुछ कामयाब भी हो गये। उदाहरण के लिए लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882), जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी में अंग्रेज़ी ढंग का पहला उपन्यास' माना है। लेकिन पूरा-पूरा 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' सबसे न बन पड़ा। खास तौर से उनसे जो सर्जनशील रचनाकार थे, जैसे हिंदी से ही उदाहरण लें तो ठाकुर जगमोहन सिंह, जिनकी कथाकृति 'श्यामास्वप्न' किसी भी तरह 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' नहीं है। ऐसे सर्जनशील रचनाकारों के सिरमौर हैं बंकिमचंद्र, जिन्हें प्रथम भारतीय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है।

छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में बंकिमचंद्र ने 'दुर्गेशनंदिनी' (1865) नाम का अपना पहला बंगला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल बाद 'कपालकुण्डला' (1866), फिर तीन साल के अंतराल के बाद 'मृणालिनी' (1869)। इनमें से एक भी 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' नहीं है। जगमोहन सिंह

के 'श्यामास्वप्न' के सामन ही ये तीनों उपन्यास किसी 'अंग्रेज़ी ढंग के नावेल' की अपेक्षा संस्कृत की 'कादम्बरी' की याद दिलाते हैं। यह भी एक विडम्बना ही है। एक लेखक कथा की पुरानी परंपरा से मुक्त होकर एकदम आधुनिक ढंग की नई कथाकृति रचना चाहता है और परंपरा है कि उसके सर्जनात्मक अवचेतन का संचालन कर रही है! कम्बल बाबाजी को कैसे छोड़े! इस तरह बंकिमचंद्र की रचना-प्रक्रिया से गुज़रकर जो चीज़ निकली उसके लिए सही नाम एक ही है—रोमांस!

उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' है – फिर उसकी परिभाषा जो भी हो –, वे इसे बंकिमचंद्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि में लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेज़ी ढंग के उपन्यास! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षागुरु' नहीं। 'परीक्षागुरु' का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिंदी के लिए! जबकि 'कपालकुंडला' अपने ज़माने की अत्यधिक लोकप्रिय कृति होने के साथ ही स्थायी कीर्ति की हकदार है। तथाकथित 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचंद्र के रोमांसधर्मी उपन्यास ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।

अंग्रेज़ी ढंग के 'नावेल' का तिरस्कार वस्तुतः उपनिवेशवाद का तिरस्कार है। भारत से पहले अंग्रेज़ी ढंग के 'नावेल' को उत्तरी अमेरिका अस्वीकार कर चुका था। हाथोर्म और मेल्विल ने 'रोमांस' की रचना की थी, किसी अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' का अनुकरण नहीं किया। 'स्कार्लेट लेटर' और 'मोबी डिक' ऐसे 'रोमांस' हैं जिन्हें 'राष्ट्रीय रूपक' के रूप में आज भी ग्रहण किया जाता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपने आप को मुक्त कर अमेरिकी प्रतिभा ने आख्यान के रूपबंध में भी स्वतंत्रता प्राप्त की। इस प्रकार उत्तरी अमेरिका में राष्ट्र और उपन्यास का जन्म साथ-साथ हुआ। तब तक के अंग्रेज़ी 'नावेल'

के रूपबंध में एक स्वतंत्र राष्ट्र की उद्दाम आकांक्षाओं का बंटना संभव न था। नये राष्ट्र ने एक नितान्त उन्मुक्त रूपबंध का सृजन किया।

भारत के भाग्य ऐसे न थे। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का अंत राष्ट्रीय पराजय में हुआ।

किंतु राष्ट्र की आत्मा ने पराजय स्वीकार न की। कल्पना में स्वतंत्रता संग्राम गोया अब भी जारी था। कहने वाले लाख कहें कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य नहीं डूबता और इस न्याय से अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' को ही आख्यान की सार्वभौम विधा का आदर्श मानते रहें, लेकिन भारत के स्वतंत्रचेता लेखक ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसके लिए तो 'सितारों के आगे जहाँ और भी है। ज़मीं और भी आसमाँ और भी हैं।"

इस ज़मीन और आसमान का ही दूसरा नाम है भारत। स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत। आँखों के सामने रोज़-रोज़ दिखाई पड़ने वाला भारत नहीं। असली भारत। मनोवांछित भारत। कल्पना का भारत। इस भारत का निर्माण ही मुख्य मुद्दा था। निश्चय ही यह एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। कल्पसृष्टि कल्प-सृजन से ही संभव है। उपन्यास यही कल्प-सृजन है। गल्प-से-गल्प की सृष्टि। एक गल्प-उपन्यास, दूसरा गल्प राष्ट्र। यह दूसरा 'गल्प' गले से जल्दी नहीं उतरता। पर विचार करें तो राष्ट्र भी एक गल्प ही है। कुल मिलाकर राष्ट्र एक प्रतिमा ही तो है। इसके निर्माण में अतीत की कितनी पुरागाथाएँ, मिथक, किवदंतियाँ, लोककथाएँ, स्मृतियाँ, इतिहास-पुराण आदि का योग होता है? कहना कठिन है कि इसमें कितना वास्तविक है और कितना काल्पनिक। बेनेडिक्ट एंडरसन ने शायद इसीलिए राष्ट्र को 'कल्पित जनसमुदाय' (इमैजिण्ड कम्युनिटी) कहा है।

आधुनिक युग में इस राष्ट्र नाम के गल्प के निर्माण का सबसे सशक्त माध्यम उपन्यास है : छापकर पढ़ने के लिए तैयार की गई गद्य-कथा। छापेखाने के साथ ही उपन्यास अस्तित्व में आया। लगभग समाचारपत्रों के साथ और यह आकस्मिक नहीं कि अनेक उपन्यास पहले पहल पत्रिकाओं में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। इन धारावाहिक उपन्यासों के द्वारा धीरे-धीरे पढ़नेवालों का एक सुनिश्चित समुदाय बना। इसे कुछ विद्वान 'प्रिंट कम्युनिटी' कहना

पसंद करते हैं। यह समुदाय वाचिक परंपरा द्वारा निर्मित समुदायों से भिन्न है—अपनी चेतना में भी और अपने ढाँचे में भी। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्र को उपन्यासों की 'निर्मिति' कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

इतिहास भी उपन्यास के समान ही एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। आख्यान दोनों का आधार है और आख्यान-रचना मूलतः कल्पना का ही व्यापार है। आकस्मिक नहीं कि इतिहास-लेखन और उपन्यास-रचना का आरंभ लगभग साथ-साथ हुआ – यहाँ तक कि अधिकांश आरंभिक उपन्यास 'ऐतिहासिक उपन्यास' हैं। बंकिमचंद्र को इतिहास और उपन्यास की इस सजातीयता का पूरा एहसास था। अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'राजसिंह' (1882) के चौथे संस्करण के 'विज्ञापन' में उन्होंने लिखा है : "इतिहास का उद्देश्य कभी-कभी उपन्यास द्वारा सिद्ध हो जा सकता है। उपन्यास-लेखक सर्वत्र सत्य (तथ्य) की शृंखला में नहीं बँधे होते। इच्छानुसार वे अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कल्पना का आश्रय ले लेते हैं। पर सर्वत्र उपन्यास इतिहास के आसन को ग्रहण नहीं कर सकता।"

फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में राष्ट्र-निर्माण की दिशा ने जो भूमिका निभाई, उससे इतिहास की तुलना संभव नहीं है। इसका मुख्य कारण उपन्यास के रूपबंध की सर्जनात्मकता है। जैसा कि रूसी चिंतक बाख्तीन ने दिखलाया है, उपन्यास अपनी प्रकृति से ही 'संवादधर्मी' है, 'बहुभाषी' है। उपन्यास के ढाँचे में समाज के विभिन्न स्तरों के चरित्र आपस में मिलते हैं और अपनी-अपनी बोली-बानी में एक-दूसरे से बात करते हैं – इस प्रक्रिया में उपन्यास का संसार सहज ही एक ऐसे राष्ट्र के रूप में सामने आता है जिसमें सभी सदस्यों की भागीदारी एक समान नागरिक की सी प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त, किसी राष्ट्र की अपनी पहचान उसकी भाषा है; और कहना न होगा कि गद्य के सबसे लोकप्रिय रूपबंध के रूप में उपन्यास ने ही भारत की आधुनिक भाषाओं को मानक रूप दिया। यह मानकीकरण छपे हुए गद्य के बिना संभव ही न था। संतों-भक्तों ने आधुनिक भारत की लोक-भाषाओं को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया तो उपन्यास ने उन्हें राष्ट्रीय रूप

प्रदान किया। इस दृष्टि से हिंदी भाषी क्षेत्र में उपन्यास की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक खड़ी बोली हिंदी का उदय एक ऐतिहासिक घटना है।

उपन्यास ने यदि राष्ट्र का रूप निर्मित किया तो राष्ट्रीय कल्पना ने उपन्यास के रूप-निर्माण में भी नियामक भूमिका अदा की। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच द्वंद्वात्मक संबंध है। इस द्वंद्व के ही कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय उपन्यास 'राजनीतिक' है। कथानक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे सामाजिक अथवा नितांत निजी प्रेम की कहानी, अंततः उनसे कोई न कोई राजनीतिक अर्थ ध्वनित होता है। संभवतः इसी बात को लक्षित करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक फ्रेडिरिक जेम्सन ने भारत-सहित तीसरी दुनिया के सभी देशों के उपन्यासों को 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) कहा है।

बंकिमचंद्र के उपन्यासों के माध्यम से 'राष्ट्रीय रूपक' की परिकल्पना को आसानी से समझा जा सकता है। 'राजसिंह' (1882) के संदर्भ में तो बंकिमंचद्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि "हिंदुओं का बाहुबल ही मेरा प्रतिपाद्य है।" कारण यह है कि 'अंग्रेज़ साम्राज्य में हिंदुओं का बाहुबल लुप्त हो गया है।" इसी प्रकार 'मृणालिनी' (1869) में भी उनका स्वदेश-प्रेम स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। सिर्फ सत्रह घुड़सवारों को लेकर बख्तियार खिलजी ने बंगाल को जीता था, इस कहानी पर बंकिमचंद्र को बिल्कुल विश्वास न था। वे बंगाली जाति के शौर्य-वीर्य के प्रति इतने आस्थावान थे कि 'मृणालिनी' के द्वारा वे इस जातीय कलंक को दूर करने में प्रवृत्त हो गए। कहने की आवश्यकता नहीं कि बख्तियार खिलजी की बंगाल-विजय भी एक रूपक ही है। इससे अनायास ही अंग्रेज़ों को बंगाल-विजय व्यंजित होती है।

बंकिमचंद्र इस राष्ट्रीय कलंक से इतने उद्वेलित थे कि अपने पहले उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' में भी इसका जिक्र करना न भूले। तीसरे ही अध्याय में वे लिखते हैं: "यह परिच्छेद इतिहास-संबंधी है। पाठकवर्ग बहुत अधीर हो तो इसे छोड़ सकते हैं; किंतु ग्रंथकार की यह सलाह है कि अधैर्य अच्छा नहीं। पहले

पहल बंगदेश में बख्तियार खिलजी के मुहम्मदीय जयध्वज फहराने पर मुसलमान बेरोकटोक कई शताब्दी तक उसके राज्य का शासन करते रहे।'

वैसे, 'दुर्गेशनंदिनी' मुख्यत्ता 'रोमांस' है जिसके केंद्र में हिंदू राजकुमार जगत सिंह और मुस्लिम शाहजादी आयशा की प्रेम कहानी है। यह प्रेम कहानी दुःखांत है। प्रेम की परिणति विवाह मे नहीं होती। फिर भी आयशा का आत्म बलिदान मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है। आयशा के आदर्श-प्रेम के सामने राजकुमार का सारा शौर्य-पराक्रम फीका पड़ जाता है। रोमांस में जो एक जीवट या साहस होता है, वह इस प्रेमकथा का अतिरिक्त आकर्षण है। इसमें अद्‌भुत का भी पुट है और रहस्य की भी सृष्टि है। इन सबको आकर्षक रंग देता है बंगाल के प्राकृतिक परिवेश का आँखों देखा वास्तव-सा चित्रण। क्या यह सब एक रूपक नहीं है?

राष्ट्रीय रूपक का इससे अच्छा उदाहरण है 'कपालकुंडला', शुद्ध रोमांस। दुःखांत यह भी है। 'दुर्गेशनंदिनी' की तरह यहाँ भी नायक की एक पूर्वपत्नी है – अधिक ईर्षालु और पतित भी। पृष्ठभूमि है गंगा सागर का वन्य, असाधारण और रौमांचक परिवेश। अंतिम दृश्य हहराते समुद्र में कपालकुंडला की छलांग और उसे बचाने के प्रयास में नायक की भी जल-समाधि। लगता है, गोया कपालकुंडला स्वयं ही वह हहराता हुआ सागर है। एक हहराते समुद्र-सी युवती। पुरुष की काम्या! उस ज्वार में निमज्जित होता पुरुष! क्या यह सब कुछ रूपक नहीं प्रतीत होता?

यदि रोमांचक 'मोबी डिक' अमेरिका का राष्ट्रीय रूपक हो सकता है तो 'कपालकुंडला' बंगभूमि का रूपक क्यों नहीं? कुछ समीक्षक तो ऐसे प्रेमकेंद्रित 'रोमांस' को 'राजनीति का कामशास्त्र' (इरोटिक्स आफ़ पालिटिक्स) कहना चाहते हैं।

जो हो, इसमें कोई शक नहीं कि बंकिम के प्रेम-केंद्रित रोमांस कोरे प्रेम से कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं। प्रेमियों का आत्मबलिदान कहीं राष्ट्रीय आदर्श के लिए आत्मबलिदान का संदेश देता है तो कहीं प्रेमियों का मिलन-प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत करता है।

तात्पर्य यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय 'रोमांस' लोकरंजन तक सीमित न थे, बल्कि उनमें एक राष्ट्रीय भावना भी अंतर्निहित थी जिससे समसामयिक पाठक कहीं-न-कहीं परिचित थे। इस प्रकार वे ऊपर-ऊपर से यथार्थ से दूर दिखते हुए भी अपने निहितार्थ में कहीं अधिक वास्तविक थे : सत्य के निकट, सत्य के निदर्शक। काल्पनिक होते हुए भी ये रोमांस यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे बहुत कुछ अनैतिहासिक होते हुए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे; और विषयवस्तु में स्पष्टतः राष्ट्रीय न होते हुए अंतर्वस्तु में राष्ट्रीय रूपक का आभास देते थे।

इनके विपरीत तथाकथित 'अंग्रेज़ी ढंग के नावेल' चाहे जितने यथार्थवादी दिखाई पड़े अंततः अनुकरणधर्मी थे : रूपबंध में एक पराई विधा के अनुकरणकर्ता और अंतर्वस्तु में प्रदत्त यथार्थ के पीछे चलने वाले; क्योंकि उनके पास यथार्थ में हस्तक्षेप करने वाली 'कल्पना' ही नहीं थी। अधिक-से-अधिक वे पुरानी नीतिकथाओं के समान अंत में नीरस उपदेश देकर ही संतुष्ट हो सकते थे; जैसे कि 'परीक्षागुरु'। औसत अंग्रेज़ी उपन्यासों की तरह उस ज़माने के ज्यादातर भारतीय सामाजिक उपन्यास बहुत कुछ 'घरेलू उपन्यास' बन कर रह गए।

विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी यह तथ्य है कि भारतीय उपन्यास में सच्चे यथार्थवाद का विकास इन 'घरेलू उपन्यासों' के द्वारा नहीं, बल्कि बंकिमचंद्र जैसे 'रोमांसकारों' के उपन्यासों से ही हुआ। वैसे, बंकिम के रोमांसधर्मी उपन्यासों में भी यथार्थ के चित्र कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'आनंदमठ' में ही बंगाल के गाँवों की दुर्दशा के चित्र। निश्चय ही शताब्दी का अंत होते-होते क्रमशः इस यथार्थवाद में व्यापकता भी आई और गहराई भी। फकीर मोहन सेनापति का उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति है और सर्वोत्तम उपलब्धि भी। यह उपन्यास एक प्रकार से प्रेमचंद के उपन्यासों का पूर्वाभास है! उपनिवेशवादी दौर का ही दलित किसान, ज़मींदार द्वारा किसान के खेत का हड़प लिया जाना, गाय का छिन जाना, मुकदमेबाजी, कोर्ट-कचहरी, वकील मजिस्ट्रेट, अंग्रेज़ी न्याय का नाटक, जेल, क्षुब्ध किसान का हिंसात्मक प्रतिशोध आदि

फिर भी यह किसी अंग्रेज़ी ढंग का नावेल नहीं है। बंकिमचंद्र की तरह ही बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक, श्लोकों की मनोरंजक व्याख्याएँ, ठेठ भारतीय व्यंग्य, फिर भी आद्यन्त व्याप्त करुणा। उन्नीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय उपन्यास-साहित्य में 'छ माण आठ गुंठ' अनूठी कृति है, अनुपम और अद्वितीय। उपन्यास के अंत में 'छ माण आठ गुंठ' का विक्षिप्त प्रलाप करते हुए मगराज का प्राणत्याग अमिट छाप छोड़ जाता है। यथार्थ और फैंटेसी एक साथ। यह उपन्यास भी अंततः एक 'राष्ट्रीय रूपक' है किसी एक व्यक्ति की व्यथा-कथा यह नहीं है, बल्कि जैसे पूरे समूह की, देश की आत्मा की चीत्कार है! 'छ माण आठ गुंठ' पूरा भारत है!

स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से पहले ही भारतीय उपन्यास अपनी अस्मिता प्राप्त कर चुका था। उसने इस अस्मिता का निर्माण किया था। इस अस्मिता का निर्माण अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के विरोध की प्रक्रिया में हुआ था, अंग्रेज़ी ढंग के 'नावेल' की नकल से नहीं। अंग्रेज़ी 'नावेल' ने तो भारतीय उपन्यास के विकास-क्रम में उल्टे बाधा ही डाली।

इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने बहुत पहले अपने 'कादम्बरी' (1902) शीर्षक लेख में चेतावनी दी थी कि केवल अंग्रेज़ी उपन्यासों – यह भी 'सोसायटी नावेल्स' – का परिचय भारतीय उपन्यासाकारों के लिए हानिकर सिद्ध हुआ है। इसके बदले भारतीय उपन्यासकारों का साक्षात्कार यदि उन्नीसवीं शताब्दी में ही रूस के तोल्सतोय और फ्रांस के बालज़ाक जैसे उपन्यासकारों की महान् कृतियों से हो गया होता तो भारतीय उपन्यास का नक्शा कुछ और ही होता।

कभी-कभी यह ख्याल भी आता है कि यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह 'नावेल्स' के लिए 'कादंबरी' संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परंपरा का प्रत्यभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता।

इस धारणा की पुष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) से होती है। एक तरह से देखें तो 'बाणभट्ट की

आत्मकथा' भारतीय उपन्यास की भी आत्मकथा है। रूपबंध में प्राचीन और नवीन का अद्भुत संयोग। 'कादंबरी' कथा की तरह आरंभ में मिस कैथराइन का कथान्तर लेकिन कथानक का विकास व्योमकेश शास्त्री के शब्दों में 'आजकल की डायरी शैली' में। "कथालेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है।" तात्पर्य यह कि 'नैरेटर' भूत-वर्तमान-भविष्य सब कुछ का जानकार सर्वज्ञ नहीं है। 'कादंबरी' की तरह ही अपनी कथा की अपूर्णता का उल्लेख करके लेखक ने क्या यह संकेत देना चाहा है कि उसकी दृष्टि में उपन्यास ऐसा रूपबंध है जो कहीं खत्म नहीं होता और एक जगह समाप्त होने के बाद भी कल्पना के लिए खुला रहता है?

कुलमिलाकर प्राचीनता का आभास देती हुई 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कितनी नई है – नई और ताज़ा। किसी कालजयी कृति के लक्षण इसके अलावा और क्या होते हैं?

इसी प्रकार यदि अंतर्वस्तु पर दृष्टिपात करें तो पूरी कथा 'एलिगरी' (रूपक) है 'ओरिएंटलिस्ट' कैथराइन अपने 'बाण' को खोजती हुई भारत आती है; शोणनद के किनारों की बीहड़ यात्रा करती है। हाथ लगती है एक पुरानी पोथी और वे तन्मय होकर नैश जागरण करती हुई उसका हिंदी अनुवाद करती है। कैसी विडंबना है कि जिस समय भारतीय उपन्यासकार अंग्रेज़ी 'नावेल' की नकल में विकल थे, एक यूरोपीय महिला भारत की एक अति प्राचीन पोथी में अपने लिए जाने क्या पा जाती है कि उल्था करने में प्राणवण से जुट जाती है। यह किसकी 'आत्मकथा' है? बाण की? भट्टिनी की? निउनिया की? कैथराइन की या फिर स्वयं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के आपाततः सम्पादक और प्रकाशक व्योमकेश शास्त्री की? यह व्योमकेश शास्त्री वही है जिन्हें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपना अभिन्न कहते हैं। कैथराइन की डॉंट और व्योमकेश पंडित का अनुचिंतन सुनें तो यह किसी व्यक्ति की कथा नहीं है, बल्कि 'आत्मा' की कथा है और आत्मा सार्वभौम है, किसी देश या व्यक्ति तक सीमित नहीं। तात्पर्य यह कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफी' के अर्थ में किसी व्यक्ति का आत्मचरित नहीं,

बल्कि समूह की अंतर्कथा है। 'एलिगरी' या रूपक और किसे कहते हैं? यहाँ व्यक्ति और समूह में कोई अंतर नहीं; व्यक्ति की कथा ही समूह की कथा बन जाती है। फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार यह 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) है और पश्चिमी दुनिया का विकसित पूंजीवादी सभ्यता से भिन्न विकासशील देशों में कथा-सृजन का स्वधर्म!

इस अर्थ में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आधुनिक भारत का 'राष्ट्रीय रूपक' नहीं तो और क्या है? एक राष्ट्र द्वारा अपनी अस्मिता की खोज और उसका पुनः प्रत्यभिज्ञान! फिर इतनी आत्मसजगता कि फिर से अपने आपको पहचान लेने के बाद भी मन पूरी तरह आश्वस्त नहीं है। संतुष्ट भी नहीं। इस स्वचेतनता का प्रमाण है उपन्यास का यह अंतिम वाक्य : अंतरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

क्या यही प्रश्न आज के भारतीय उपन्यास के भविष्य को लेकर नहीं किया जा सकता?

10. संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास

निर्मल वर्मा

हम भारतीय लेखक उस विधा के बारे में बहुत कम सोचते हैं, जिसे स्वयं अपने सृजन के लिए चुनते हैं। हमारे लिए 'विधा' महज़ माध्यम है, लक्ष्य कुछ और है साहित्य, समाज, दर्शन। इसलिए 'साहित्यिक' साहित्य की रचना करते हैं। हम यह नहीं सोचते कि लेखक की नैतिकता उसके विचारों में या उनकी अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियों में निहित नहीं होती, उसकी नैतिकता इस बात में निहित होती है कि उसका अपनी विधा, अपनी भाषा के प्रति क्या रुख है। दो शब्दों में कहें कि जिस 'चीज़' को हम समाज की आलोचना का औज़ार मानते हैं, खुद उस औज़ार का परीक्षण ज़रूरी नहीं समझते।

ज़रूरी नहीं, आत्म-परीक्षण के अभाव में सृजन-शक्ति कुण्ठित हो बल्कि अक्सर देखा गया है कि अपनी विधा के प्रति अत्यधिक बौद्धिक सतर्कता कभी-कभी मुक्त, सहज, निर्दोष प्रेरणा को बोझिल और बनावटी बना देती है। किंतु इससे अगर कोई लेखक यह सुविधाजनक निष्कर्ष निकाल ले कि भाषा और विधाओं के बारे में माथापच्ची एक व्यावसायिक आलोचना का काम है, कलाकार का अपना कर्म नहीं, तो शायद स्वयं कला के लिए इससे आत्मघाती भ्रम कोई दूसरा नहीं। सृजनात्मक कल्पना अपने सर्वोत्तम क्षणों में उतनी ही आलोचनात्मक होती है, जितनी व्यावसायिक आलोचना अपने

गरिमापूर्ण क्षणों में सृजनात्मक। सृजन और आलोचना को अलग-अलग कटघरों में बाँटकर हम एक तरफ आलोचना को निर्जीव और पंगु बना देते हैं, दूसरी तरफ़ सृजन को महज एस्थेटिक सौंदर्य का साधन-मात्र। हम अक्सर भूल जाते हैं कि कल के आधुनिक आंदोलन, जिसकी शुरुआत बीसवीं शती के आरंभ में हुई थी, की प्रमुख विशेषता यह प्रखर-आलोचनात्मक दृष्टि ही थी।

यह आलोचना कोई बाहर की चीज़ न होकर खुद लेखक के सृजनात्मक एडवेंचर से जुड़ी है – स्वयं 'लिखने' के कार्य में अंतर्निहित है। इसलिए विचारों, सिद्धांतों और दर्शन से अलग लेखक की आलोचना उसकी कल्पना के बीचों-बीच केंद्रित है। लेखक का 'शब्द' न यंत्र है न माध्यम, न ही तर्क-संगत विचार-पद्धति, वह सिर्फ़ है – और उसका होना ही तीव्र ढंग से आलोचनात्मक हो जाता है। भाषा जिस चीज़ को व्यक्त करती है, स्वयं वह चीज़ भी है जिस लक्ष्य का माध्यम है, खुद वह लक्ष्य भी है, अगर वह समाज-परीक्षण का 'यंत्र' है तो स्वयं उस यंत्र को माँजने का स्वप्न भी है – साहित्य जो 'होता' है, उस 'है' से निकलकर बार-बार उसके पास 'लौटता है। अतः अंतिम रूप में हर कला की लड़ाई अपने से लड़ाई है, अपना आत्म-मंथन है। यह आत्म-मंथन सृजन-कर्म को आलोचनात्मक करता है। शब्द किसी विचार का वाहक नहीं, जब शब्द पीछे मुड़कर अपनी तरफ देखता है, तो खुद विचार बन जाता है। हम 'विचार' को बौद्धिकता और 'कल्पना' को सृजन के साथ नत्थी करने के इतने आदी हो चुके हैं कि यह सोचना असंभव लगता है कि शब्द से जुड़कर हर कल्पना वैचारिक, हर सृजन-प्रक्रिया आलोचनात्मक हो सकती है। शब्द का यह चयन मनमाना, रहस्यमय, अलौकिक नहीं है, इस चयन के पीछे लेखक का समूचा नैतिक संघर्ष छिपा होता है, बल्कि यूँ कहें, अगर लेखक की प्रतिबद्धता – जैसी कोई चीज़ है, तो वह लेखक और शब्द के बीच संबंध में ही प्रतिध्वनित हो सकती है।

इससे हम एक अनोखे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : कोई भी कला-कृति अपनी शुद्ध पवित्रता में ही सबसे अधिक आलोचनात्मक हो सकती है। जिस हद तक सृजन-शक्ति समाज के बाहरी खूँटों से, समाज-शास्त्र और सैद्धांतिक आग्रहों

की 'छद्म चेतना' से मुक्त होती जाएगी, उस हद तक ही वह सार्थक आलोचनात्मक चेतना की वाहक बन सकेगी। दूसरे शब्दों में – वही कला, जो किसी विचार का यंत्र न हो, सबसे अधिक प्रखर वैचारिक यंत्र बन जाती है। वह किसी 'सत्य' का माध्यम न बनकर खुद अपने नंगे रूप में, बिना किसी समझौते का चीथड़ा ओढ़े, सत्य हो जाती है। यह न विचित्र है और न ही विरोधाभासपूर्ण, कि एक अधिनायकसत्ता में शुद्ध कल्पना को सबसे अधिक संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। जहाँ कला को किसी बाहरी सत्य का माध्यम माना जाता रहा है, वहाँ वह कला सबसे अधिक खतरनाक बन जाती है जो खुद अपने में सत्य उद्‌घाटित करती है। कितना बड़ा व्यंग्य है 'यथार्थवादी' कला पर, जिसका अपने यथार्थ पर विश्वास नहीं, इसलिए कितनी खतरनाक बन जाती है वह कला, जो किसी यथार्थ की ओट मे नहीं, खुद अपनी शर्तों पर, महज़ अपनी कल्पना को केंद्र मानकर जीवित रहना चाहती है, सिर्फ बाहर के यथार्थ में ही नहीं बल्कि खुद अपने सत्य से साक्षात्कार करना चाहती है। कला का यह आत्म-मंथन, खुद अपनी जड़ों को खोजने का यथार्थ ही उसे एक साथ आधुनिक, आलोचनात्मक और खतरनाक बना देता है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिटलर और स्तालिन दोनों ही 'आधुनिक कला' से भड़कते थे, क्योंकि एक समय में आधुनिक होने का मतलब ही आलोचनात्मक होना था, किसी विचार या सिद्धांत या निज़ाम की बाहरी प्रचारात्मक आलोचना नहीं, बल्कि ऐसी आलोचना जो स्वतंत्र, सृजनात्मक, पवित्र कल्पना के केंद्र में वास करती है, इसलिए स्वतः अपने अस्तित्व द्वारा ही एक चुनौती हो जाती है। आधुनिक कला-कृति का 'विषय' चाहे अमूर्त हो, अपने में वह सबसे अधिक मूर्त स्वतंत्रता का प्रतीक हो सकती है।

आधुनिक हिंदी कविता में कल्पना को पुनर्प्रतिष्ठित करने का संघर्ष लम्बे अर्से तक चलता रहा है – बहुत हद तक वह जीता भी जा चुका है। यह संघर्ष कविता का बाहर से नहीं, बल्कि अपने से, अपने बीच शब्दों की यथार्थता को खोजने का संघर्ष रहा है। मुक्तिबोध – जैसे कवि को हमने उनकी 'कल्पना-लोक' की शर्तों पर स्वीकार किया है, अपनी शर्तों पर हम बरसों उन्हें उपेक्षित करते आए थे। जिस ज़मीन पर आधुनिक हिंदी कविता ने

संघर्ष किया था, वह उसे लम्बी विरासत से उपलब्ध हुई थी – एक लंबी परंपरा का 'रेफरेंस' उसके पास था, तोड़ने की प्रक्रिया में जुड़ने की तीव्र आकांक्षा निहित थी, इसीलिए 'नहीं' की चीख भी कहीं दूर अँधेरे में 'हाँ' की कौंध पैदा करती थी। यह संघर्ष बाहरी खूँटों पर न होकर खुद कविता की भाषा और संस्कारों में गुँथा था। अतः आधुनिक हिंदी कविता अपने सर्वोत्तम क्षणों में नए या पुराने पश्चिमी या जातीय प्रभावों का झगड़ा न होकर – स्वयं अपने को नए संदर्भ में परिभाषित करने की कोशिश थी। यही कारण है कि आज जिसे हम नई कविता कहते हैं, जिसमें पिछले तीस वर्षों का संघर्ष शामिल है, वह खुद में आलोचात्मक कविता है – आलोचनात्मक, महज़ यथार्थ या समाज के संदर्भ मे नहीं, बल्कि गहनतम स्तर पर आत्मालोचनात्मक, जिसके बिना बाहर की आलोचना कोई मानी नहीं रखती। अगर आज रघुवीर सहाय इतने हल्के-फुल्के ढंग से, बिना किसी राजनीतिक मुद्रा या वाद का सहारा लिए, इतनी तीव्र व्यंग्यात्मक, राजनीतिक कविता लिख सकते हैं, तो इसलिए कि स्वयं हिंदी कविता ने पिछले बरसों में गहरा आत्म-मंथन, अपनी जड़ों और भाषा-संस्कारों की सही या गलत, लेकिन निर्भीक, बेलौस आलोचना की है। आज की कविता के पीछे आत्म-परीक्षण की यह सशक्त पीठिका न होती, तो शायद उसका वही हस्र होता जो बरसों पहले 'प्रगतिवादी' कविता का हुआ था।

एक समय था जब आधुनिक हिंदी कहानी में भी आत्म-परीक्षण की इस चुभन को एक 'फ्लैश' में पकड़ने की कोशिश की थी। तब आत्म-जिज्ञासा का ज्वार आया था, जब हमने अपने से पूछा था कि गद्य में वह कौन-सी चीज़ है जो उसे कविता का संकेंद्रित भाव, एकनिष्ठ सघनता (intensity) देती है, और इसके बावजूद उसका अपना कथ्यात्मक स्वरूप कायम रह सकता है। काव्यात्मक गद्य का प्रश्न नहीं, बल्कि गद्य में 'कल्पना' की जगह ढूँढने का प्रश्न था, जो काव्य-सत्य को जन्म देता है। एक दूसरे स्तर पर प्रश्न यह था कि हमारे यहाँ द्विवेदी-काल से इतिवृत्तात्मक गद्य की जो परंपरा रही है, उसे कैसे किन सर्जनात्मक विधाओं द्वारा नया मोड़ दिया जा सके। गद्य एक चीज़ है, उसके सामने सारा संसार फैला है – शब्दों द्वारा हम उसका निरूपण,

व्याख्या कर सकते हैं। यदि इस व्याख्या के चौखटे में हम घटनाएँ, पात्र, स्थितियाँ जमा कर देते हैं, तो इससे वह 'उपन्यास' नहीं बनती, इतिवृतात्मक चौखटे में कहानी शामिल करके किसी सृजनात्मक विधा का जन्म नहीं होता, क्योंकि संसार या यथार्थ के प्रति दृष्टि वही रहती है, जो व्याख्या द्वारा नियमित होती थी। हम चौखटों को बाहर से ले सकते हैं, उन पर उपन्यास और कहानी का लेबिल भी चिपका सकते हैं, किंतु जो यथार्थ हमारे आसपास फैला है, हमारी स्मृतियों और संस्कारों में सन्निहित है, उसका इन चौखटों से कोई वास्ता नहीं। हम जब तक इस यथार्थ को नष्ट नहीं कर देते – उसे मुर्दा और निर्जीव नहीं बना देते, तब तक उसे इन चौखटों में फिट नहीं कर सकते। यह हमारी विडम्बना है। अगर हम पश्चिम से बनी-बनायी उपन्यास की विधा उधार लेने की सुविधा उठाना चाहते हैं, तो हमें अपने अनुभव और यथार्थ को नष्ट करना होगा। यदि हम इस यथार्थ को जीवित रखना चाहते हैं, तो हमें खुद 'उपन्यास'–जैसी विधा का परीक्षण करने का जोखिम उठाना होगा, जिससे आज तक हम बचते आए हैं।

कविता का समूचा रहस्य उसके 'बीजत्व' में हैं – एक ऐसा बीज, जिसमें 'क्षण' है, तो 'शाश्वत' भी। बीज में अतीत और भविष्य दोनों हैं, दोनो का निषेध भी है, इस निषेध की स्वीकृति भी उसमें शामिल है। इसी में उसका रहस्य है। इसमें उसका जादू भी है, ऐसा जादू जो एक बीहड़, प्रागैतिहासिक मिथक कि तरह भाषा की अँधेरी जड़ों में बैठा रहता है। हम जिस तरह बीज को खोल नहीं सकते, बिना उसे नष्ट किए, उसी तरह बिना उसका जादू नष्ट किए, हम कविता की व्याख्या नहीं कर सकते। किंतु गद्य की 'काव्यात्मकता', वृक्ष के विस्तार की तरह, केवल समय में ही प्रस्फुटित हो सकती है। समय का विस्तार ही वह आबोहवा है, जिसमें एक शब्द दूसरे शब्द से जुड़ता है, एक का अर्थ दूसरे में खुलता है। कविता में अकेला एक शब्द, महज़ अपने सघनत्व और अप्रत्याशित रूप से प्रकट होने की प्रक्रिया में, एक अनोखा अर्थ दे सकता है – अपने आसपास के शब्दों को फोड़ आकाश की तरफ एक मीनार की तरह उठता हुआ। किंतु गद्य में शब्दों का अर्थ अन्योन्याश्रित है, horizontal है, वह समय की लय में एक शृंखला बनाता

है, एक 'कथ्यात्मक' धागे में जो 'है' उसे 'होने' में पिरोता है। यदि उपन्यास की विधा अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक नई है, तो इसलिए कि पहले कभी 'समय ने इतने प्रत्यक्ष और प्रमुख ढंग से मनुष्य के जीवन में दखल नहीं दिया था।

समय के इन चौखटों में ही यूरोपीय उपन्यास का विकास हुआ था। कहानी कहने की परंपरा बहुत पुरानी रही हो, किंतु जिस विशिष्ट विधा में मनुष्य और उसकी नियति के बीच संबंध जोड़ा गया, वह 'कहानी' बहुत पुरानी नहीं है। उसमें आपको एक खोए हुए सुरक्षित समय को पाने को 'नौस्टेलजिया' मिलेगा, जो आने वाले समय के प्रति अदम्य विश्वास भी, तथ्यों के प्रति वस्तुपरक दृष्टि मिलेगी, तो स्वयं इन तथ्यों के लौह-चक्र से पलायन करने का स्वप्न, फेण्टेसी, मोह भी दिखाई देंगे। इसमें बुर्जुआ वर्ग के वे सब तत्व दिखाई देंगे जिनका विश्लेषण बाल्ज़ाक ने इतनी निर्मम अंतर्दृष्टि से किया है, शहर की भीड़ में आदमी का अकेलापन और उस अकेलेपन की व्यर्थता जिसे एंगेल्स ने मैनचेस्टर में और बादलेयर ने पेरिस की भीड़ में देखा था। इस भीड़ के बाहर भी शांति नहीं थी – बाहर सिर्फ ऊब थी, जिसके पिंजरे में छटपटाते हुए मदाम बॉवेरी ने दम तोड़ा था। शायद ही कोई साहित्यिक विधा इतने भयानक और नंगे ढंग से समय-सापेक्ष, वर्ग-सापेक्ष रही हो, जितनी उपन्यास की विधा थी। वह एक आईना थी, जिसमें पहली बार बुर्जुआ संस्कृति ने अपने दर्पपूर्ण गौरव और घिनौनी विकृति, दोनों को एक साथ देखा था।

यहाँ मेरी मंशा यूरोपीय उपन्यास का विश्लेषण करने की नहीं है। मेरा संकेत सिर्फ एक खास संस्कृति की तरफ है, जिसमें यूरोपीय उपन्यास का ढाँचा तैयार हुआ था। इस ढाँचे के भीतर समय का अपना निश्चित, नियोजित संघटन था। घटनाओं द्वारा व्यक्ति-चेतना का विकास होता था और अपनी बारी आने पर खुद यह चेतना घटनाओं को परिभाषित, आलोकित करती थी। यह चेतना आत्म-निर्भर थी, तीव्र रूप से सजग और स्वायत्त, और इसी में उसकी यातना, द्वंद्व, आत्म-मंथन शामिल थे। बुर्जुआ व्यक्ति की अपने प्रति यह उम्मीद और निराशा, विश्वास और संदेह के अजीब मिश्रण से ही उस

आत्मघाती द्विविधा का जन्म हुआ था, जो फ्लोबेअर से काफ़्का तक के उपन्यासों में चली आती है।

ताज्जुब की बात यह है कि हमने अपने कथ्यात्मक गद्य के लिए 'उपन्यास '-- जैसी विधा को चुना, जो नितांत भिन्न सांस्कृतिक अनुभव-क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी। यह कुछ ऐसा था, कि हम एक ऐसे बने-बनाए मकान में रहने लगें जो दूसरों ने अपनी ज़रूरतों, संस्कारों, स्मृतियों--एक शब्द में कहें तो अपनी 'जलवायु' के अनुसार बनाया था। हम न केवल उसमें रहने लगे, बल्कि कभी उसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने की ज़रूरत भी महसूस न की। प्रेमचंद से लेकर अधुनातन उपन्यासकार ने कभी 'उपन्यास' की विधा पर शंका प्रकट नहीं की, अपने अनुभव के संदर्भ में उसका पुनर्परीक्षण तो दूर की बात थी। बरसों से हमने जिस विधा को 'सामाजिक यथार्थ' के विश्लेषण का सबसे महत्वपूर्ण औजार माना, कभी उस औजार की सक्षमता की जाँच-पड़ताल करने की ज़रूरत का सामना नहीं किया।

यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि हिंदी में कितने अच्छे 'उपन्यास' लिखे गए हैं। अमृतराय ने उनकी एक लम्बी फेहरिस्त हाल में अपने एक लेख में दी है। इस फेहरिस्त को और भी लम्बा किया जा सकता है। मूल प्रश्न यह है कि हिंदी उपन्यासों का मूल्यांकन कौन-सी कसौटी पर करते हैं। जब तक हम इस कसौटी के लिए खरी कसौटी नहीं ढूँढ़ते--तब तक 'अच्छे' उपन्यासों की गिनती करवाकर हम मन-ही-मन खुश अवश्य हो लें -- हम वहीं रहेंगे, जहाँ आज हैं। इस कसौटी के अभाव में हम विश्वसनीय रूप से यह भी तय नहीं कर सकते कि जिस फेहरिस्त में भगवती बाबू और अमृतलाल नागर हैं, उसमें गुलशन नंदा को क्यों छोड़ा जाए। यही नहीं, हम आगे बढ़कर एक अजीब, मनमानी 'कसौटी' तैयार करते हैं, जिसे लेकर 'अंतर्मुख' और 'वस्तुपरक' उपन्यासों के बीच भेद भी करते हैं -- और 'वस्तुपरक' को यथार्थवादी उपन्यास मानते हैं -- मानो खुद व्यक्ति की अपेक्षा 'वस्तु' यथार्थ के अधिक नज़दीक हो।

यह कसौटी कहीं बाहर न होकर खुद उपन्यास-विधा की संरचना के भीतर है। हम यह कहकर उपन्यास की आलोचना नहीं कर सकते कि वह 'ज़िंदगी

के कितने पास है' (कौन-सी ज़िंदगी, कैसी ज़िंदगी?), उसकी घटनाएँ कितनी 'विश्वसनीय' है (विश्वसनीयता' कभी साहित्य की कसौटी नहीं रही, वरना शेक्सपियर सबसे अधिक असफल लेखक होते), या उपन्यास के पात्र कितने 'यथार्थपूर्ण' हैं ('यथार्थ' बिजली का कोई बल्ब नहीं जिसके पास जाकर कोई साहित्य-विधा चमक जाती हो और दूर जाकर धुँधला जाती हो)। उपन्यास की अर्थवत्ता 'यथार्थ' में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया, उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है। तभी किसी विधा के भीतर एक विशिष्ट 'फॉर्म' का आविर्भाव होता है, जो 'समेटने' की हर लय, स्तर और स्पंदन को अनुशासित करती है, ऐसे 'स्पेस, का उद्घाटन करती है, जहाँ अनुभव का औपन्यासिक जीवन शुरू होता है। हम अक्सर साहित्यिक विधा और फॉर्म को आपस में उलझा देते हैं – एक रूढ़ प्रणाली है, दूसरी उसे तोड़कर अपनी धारा को खोजने की कोशिश – यदि इनमें हम भेद कर पाते तो यूरोप की संस्कृति-सापेक्ष विधा को अपनाते समय उसके 'फॉर्म' को भी ज्यों-का-त्यों अपनाना ज़रूरी न समझते।

फॉर्म की यह खोज कोई हवाई, एस्थेटिक खोज नहीं है, इसका सीधा संबंध सांस्कृतिक अनुभव की उस धारा से है, जिसमें हमारे संस्कार, स्मृतियाँ, समय, जीवन और मृत्यु का बोध शामिल हैं, यदि इन सब बिंदुओं के प्रति हमारा रुख, हमारी दृष्टि यूरोपीय मनुष्य से अलग रही है, यदि 'समय' के प्रति हमारा बोध उस ऐतिहासिक समय से बिलकुल अलग रहा है, जिसे उन्नीसवीं शती के यूरोपीय उपन्यास ने अपना केंद्र-बिंदु माना था, यदि व्यक्ति के प्रति हमारा दृष्टिकोण उस यूरोपीय 'व्यक्ति' से बिलकुल भिन्न हो जो आत्म-सजग है, स्वायत्त है, स्वयं अपनी 'स्वतंत्रता में खंडित' (हेगल) है – एक ऐसा व्यक्ति जो अपनी 'प्राइवेसी' में ही अपनी स्वतंत्रता को हासिल करता हो – यदि हम भिन्नता के इन सब बिंदुओं को नज़रअंदाज नहीं करते, तो हम एक ऐसे 'फॉर्म' को खोज सकते थे जो ऊपरी कथ्यात्मक विधा के तौर पर शायद 'उपन्यास' की तरह होती, किंतु जिसकी मूल चालक शक्ति पश्चिम की उपन्यास-विधा से बिलकुल भिन्न होती।

भिन्न इसलिए नहीं कि चूँकि 'भारतीय अनुभव' यूरोप के अनुभव से अलग है तो भारतीय उपन्यास भी यूरोपीय उपन्यास से अलग होगा। केवल अनुभव की भिन्नता से अलग-अलग साहित्य-विधाएँ उत्पन्न नहीं हो जातीं, वरना फ्रेंच उपन्यास और अंग्रेज़ी उपन्यास महज अनुभवों के आधार पर बिलकुल अलग होते। यदि इन भिन्न अनुभवों के बावजूद उपन्यास के विशिष्ट यूरोपीय फॉर्म का आविर्भाव हुआ तो इसलिए कि इन देशों की सांस्कृतिक समानता, धर्म और इतिहास के प्रति व्यक्ति का जुड़ाव, खुद 'व्यक्ति' की आत्मकेंद्रित इकाई बहुत-कुछ एक सूत्र में बँधी है। इस संदर्भ में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यूरोप की इस परंपरा में ही 'संस्कृति', 'समाज', 'डिमॉक्रेसी' – जैसे शब्द कोई मानी रखते हैं – भारतीय संदर्भ में और तो और, 'संस्कृति '–जैसा शब्द भी अजनबी जान पड़ता है। यूरोप मे संस्कृति का अहसास ही एक आत्म-सजग, विकसित आत्म-चेतना से जुड़ा है – एक ऐसे समाज में ही 'संस्कृति' का बोध होता है, जहाँ मनुष्य का धार्मिक अनुभव उसके सेक्यूलर अनुभव से स्पष्ट रेखा द्वारा विभाजित हो। किंतु 'भारतीय संदर्भ' में इस तरह का कोई विभाजन न था, धर्म की धारा में संस्कृति का उतना ही समावेश था, जितना अध्यात्म का। शेक्सपियर और बीथोवन अवश्य यूरोपीय संस्कृति की गौरवपूर्ण परंपरा में आते हैं, किंतु आज भी हम किसी साधारण, यूरोपीय शिक्षा से अनभिज्ञ किंतु अपने संस्कारों में संवेदनशील, हिंदू से कहें कि तुलसीदास की रामायण हमारी संस्कृति का अंश है, तो अवश्य उसे कुछ आश्चर्य और संकोच का अनुभव होगा। वह 'संस्कृति' को अलग से एक विशिष्ट भावबोध के अर्थ में अपनी समूची जीवन-मर्यादा से अलहदा नहीं देख सकता, जबकि यूरोप में इससे बिलकुल विपरीत 'संस्कृति' का आविर्भाव ही ऐसे समय में हुआ था, जब व्यक्ति ने 'अपनी शर्तों पर' जीवन-मर्यादा के प्रति शंका प्रकट की थी। उपन्यास की विधा स्वयं इस शंका की अभिव्यक्ति के रूप में यूरोप के सांस्कृतिक अनुभव का एक हिस्सा बनी थी।

किंतु मुझे दुबारा बहस के उस बिंदु पर लौटना चाहिए जहाँ से मैं भटक गया था। जातीय अनुभव की भिन्नता महत्वपूर्ण है, किंतु हमें उसके महत्व को ज़रूरत से ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना चाहिए – खासकर जब बहस

साहित्यिक विधाओं को लेकर हो। हम जिस युग में रहते हैं, उसमें वैसे भी देर-सबेर एक देश और दूसरे देश के लोगों के बीच अनुभवों का अंतर सिकुड़ता जाएगा। साहित्य में प्रश्न अनुभव के विषय (कॉण्टेंट) का नहीं है, बल्कि उस रूप और रास्ते का है, जिसके द्वारा वह अनुभव एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना में परिलक्षित होता है, दूसरे शब्दों में अनुभव का 'कॉण्टेंट' चाहे जैसा हो, महत्व इस चीज़ का है कि वह चेतना के किस धरातल और रूप में एक व्यक्ति से जुड़ता है। उदाहरण के तौर पर मनुष्य का अतीत एक सार्वभौमिक अनुभव है, पश्चिम में वैसा ही जैसा भारत में, किंतु व्यक्ति और अतीत के बीच एक विशिष्ट जुड़ाव, एक सांस्कारिक संबंध जिससे 'स्मृति' का जन्म होता है – यह इतिहास का विषय नहीं, संस्कृति का प्रश्न है। आश्चर्य नहीं, एक भारतीय उपन्यासकार इस प्रश्न के दबाव को बहुत तीव्रता से महसूस करके, एक कवि से कहीं अधिक, क्योंकि उपन्यास की कथ्यात्मक गति सीधी समय और कृति के साथ जुड़ी है। आश्चर्य यही है कि उपन्यास ही वह क्षेत्र है, जहाँ हमने इस दबाव की सबसे अधिक अवहेलना की है। भारत में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं, हर साल लिखे जाते हैं – मनोवैज्ञानिक उपन्यास, यथार्थवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास – लेकिन स्वयं 'उपन्यास' की समस्या पर विचार, उसके जातीय फ़ॉर्म का अन्वेषण, हमने नहीं के बराबर किया है। इस स्तर पर उपन्यास की समस्या हमारी समूची संस्कृति के विश्लेषण से जुड़ी है। यहाँ हमें मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों के अदृश्य, संश्लिष्ट, परंपरा और स्मृति में उलझे असंख्य सूत्रों को टटोलना होगा, जो पश्चिम के बुर्जुआ, द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक संबंधों से बहुत अलग हैं। उपन्यास समय के भीतर बहता है, किंतु घटनाओं में बहता समय – जो पात्रों को एक स्तर से दूसरे स्तर पर विकसित और परिवर्तित करता है – क्या हमारा 'समय' है? क्या यह ज़रूरी है कि पहले पन्ने पर जो व्यक्ति दिखायी दे, उसकी नियति, बीच की घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा, अंतिम पृष्ठ पर उद्घाटित हो? क्या ऐसा नहीं है कि मनुष्य की नियति कहीं दूर समय-बिंदु पर न होकर उसके भीतर अंतर्निहित है – 'एपिक' के पात्रों की तरह और बीच की घटनाएँ उस नियति को महज धीरे-धीरे आलोकित करती

जाती हैं? हर पात्र समय के दौरान उस नियति पर पहुँचता नहीं, बल्कि बार-बार एक वृत्त में घूमता हुआ उसी के पास लौटता है, जहाँ से शुरू होता है?

ये सब प्रश्न एक दूसरा रास्ता दिखाते हैं, जो यूरोप की उन्नीसवीं शती तक ही उपन्यास-विधा से बिलकुल भिन्न है। प्रूस्त और जॉयस ने पश्चिमी उपन्यास की शिल्प-विधा को अँधी गली मानकर छोड़ दिया था। वे एक ऐसी आत्म-सजग ऐतिहासिक चेतना की चरम-सीमा पर पहुँचकर अपनी स्मृति के शाश्वत समय की तरफ़ मुड़े थे – उन्नीसवीं शती की बुर्जुआ, ऐतिहासिक क्रम को छोड़कर उन्होंने उपन्यास की विधा को तोड़ा था। कितना बड़ा व्यंग्य है कि जिस विधा को छोड़कर वे अतीत और स्मृति की तरफ आए थे, हम खुद आज उस ज़मीन को छोड़कर बरसों से एक ऐसी विधा से चिपके हैं, जो शुरू से ही हमारे सांस्कृतिक अनुभव, हमारी स्मृति और संस्कार, समय और विकास के प्रति हमारी विशिष्ट मर्यादा के प्रतिकूल और अयोग्य रही है।

हम अक्सर 'गोदान' के बारे में कहते हैं कि 'वह एक उत्कृष्ट उपन्यास है, लेकिन' – बरसो से हम इस 'लेकिन' के आगे अपने धुँधले असंतोष के कारण ढूँढ़ते आए हैं। यहाँ तक कि 'गोदान' के अंग्रेज़ी संस्करण तैयार करते समय हम अनेक ऐसे प्रसंग, पात्र, घटनाएँ छोड़ देना उचित समझते हैं, जो उपन्यास की 'मूल कथा' को कमज़ोर बनाते हैं, उसके नैसर्गिक प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। किंतु इस तरह की काट-छाँट से उपन्यास की मूल कमज़ोरी दूर नहीं हो जाती, क्योंकि वह कमज़ोरी अनावश्यक घटनाओं या पात्रों में न होकर स्वयं गोदान की समूची औपन्यासिक संरचना के केंद्र में विराजमान है, यह कमज़ोरी उस फॉर्म मे निहित है, जो प्रेमचंद ने होरी–जैसे जीवन्त, अपनी सुख-पीड़ा में सतत प्रवहमान–जैसे पात्र पर आरोपित की है। एक तरफ प्रेमचंद की गहन अंतर्दृष्टि है जो 'गोदान' के पात्रों ने उन्हें दी है, दूसरी तरफ 'एक ऐसी बनी-बनाई विधा' को अपनाने की मोहजनक सुविधा है, जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व, जातीय अनुभवों–उनकी जीवन-धारा से कोई संबंध नहीं। यह एक सृजनात्मक चुनौती थी जब प्रेमचंद रूसी उपन्यासकारों की तरह उन्नीसवीं शती के 'परंपरागत' औपन्यासिक ढाँचे को छोड़कर या उसे परिवर्तित करके एक ऐसी कथ्यात्मक, नेरेटिव विधा का

अन्वेषण करते, जो होरी की नियति और मर्यादा, उसकी हताशा और नैतिकता के अनकूल अपना निजी 'कलात्मक स्पेस' निर्धारित कर सकती। यह इसलिए भी ज़रूरी था, क्योंकि घटनाओं के प्रति होरी का संबंध वैसा द्वंद्वात्मक, समय-अनुशासित नहीं है, जैसा पश्चिम के उपन्यास-पात्रों का साधारणतः होता है। जब हम पहली बार उपन्यास में होरी को देखते हैं, तो हमें एक झलक में उसकी अंतिम नियति का आभास मिल जाता है – एक एपिक-पात्र की तरह उसकी नियति एक वाक्य, एक संकेत, एक उड़ती हुई प्रतिक्रिया में अंतर्निहित है। कितना भिन्न है होरी का चरित्र पश्चिम के क्लासिक उपन्यास-पात्रों से, जो एक घटना से दूसरी घटना की तरफ बढ़ते हुए अपने को उद्घाटित करते हैं, एक आयाम को छोड़कर नितांत नया, गुणात्मक रूप से भिन्न आयाम ग्रहण करते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि समूचे उपन्यास में होरी बदलता नहीं, या अलग-अलग मौकों पर उसकी प्रतिक्रियाएँ नहीं बदलती, किंतु यह बदलाव, ये अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ वास्तव में एक स्थिर चरित्र की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं – वह चरित्र नहीं बदलता, उसके 'चित्र' बदलते हुए भी एक आयामी धुरी पर कायम रहते हैं, एक ऐसे वृक्ष की तरह, जो हवा के थपेड़ों से कभी झुकता है, कभी सिर उठाता है, लेकिन अपनी ज़मीन नहीं छोड़ता। वह पात्र, जिसका जीवन किसी पश्चिमी उपन्यास में नहीं मिलता, क्या उसी पश्चिमी उपन्यास की विधा उसके जीवन के लिए अनुकूल थी? क्या यही कारण नहीं है कि बरसों से हम 'गोदान' को एक मिश्रित प्रतिक्रिया में प्रस्तुत और महसूस करते आए हैं – गर्व और संकोच के मिले-जुले भाव में – एक उत्कृष्ट उपन्यास – लेकिन...

इस 'लेकिन' के आगे हम पुनः उस बिंदु पर लौट आते हैं जहाँ से हर विधा का सृजनात्मक पूर्ण परीक्षण शुरू होता है। यह एक जोखिमपूर्ण एडवेंचर है, क्योंकि एक ऐसा क्षण आता है, जब अनुभव और विधा के बीच अंतर्विरोध किसी सुविधाजनक समझौते से नहीं सुलझाया जा सकता। उपन्यास के क्षेत्र में यह जोखिम और भी बढ़ जाता है क्योंकि वह इतिहास और कविता के बीच एक ऐसे स्थल की खोज है, जहाँ तर्कशील, आत्मसजग चेतना, विचारों और विश्वासों द्वारा नहीं बल्कि स्मृति और सांस्कृतिक अनुभवों में साँस लेती

है। कविता की तरह वह भाषा और बिंबों में उतनी ही डूबी है, जितनी डूबने के बाद बाहर समय में अपने अनुभवों को परिभाषित करने को आतुर।

एक आधुनिक भारतीय लेखक के लिए यह जोखिम और भी अधिक विकट है। उपन्यास–जैसी विधा के लिए उसे एक पश्चिमी लेखक की ही तरह आत्म-सजग और तर्कशील होना होगा, किंतु इस विधा की सीमाओं पर उसे एक निर्वैयक्तिक, गैर-ऐतिहासिक, 'मिथक-सम्पन्न अँधेरी' स्मृतियों को उजागर करना होगा, उन्हें उजागर करने के लिए खुद इस 'अँधेरे' में डूबना होगा। यह समूचा कार्यकलाप, यह एडवेंचर किसी आलोचनात्मक, बौद्धिक योजना द्वारा नहीं, शुद्ध कल्पनाशील अनुभवों के बीच होगा। फॉर्म का निर्माण नहीं, सृजन होता है। इसी 'कल्पनाशीलता' के आधार पर तोल्स्तोय 'रूसी समाज का दर्पण' बने थे, अपने ऐतिहासिक, बौद्धिक ज्ञान के कारण नहीं।

इतिहास और मिथक, समय और स्मृति – इन दो उजले-अँधेरे छोरों के बीच भारतीय उपन्यास जिस ज़मीन को समेटेगा, उसके लिए जिस 'फॉर्म' को ढूंढ़ना होगा, वहाँ उस ज़मीन पर भारतीय लेखक ने शुद्ध रूप के दर्शक रहेगा – एक विदेशी, उपन्यासकार की तरह – न पूर्ण रूप से भोक्ता, एक औसत भारतीय की तरह। वह न तो इस अर्थ में एक अलगावग्रस्त (alienated) बुर्जुआ लेखक बन पाया है जो अपने अलग आत्मसजग व्यक्तित्व के बाहर अपने अतीत, स्मृतियों और संस्कारों से अलग रह सके, न इन संस्कारों और स्मृतियों से इतना अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है कि बाहर के अलगाव, अपने दो सौ वर्षों के यूरोपीय अनुभव से अर्जित आत्म-चेतना की उपेक्षा कर सके। वह बाहर भी है, भीतर भी, वैयक्तिक है तो निर्वैयक्तिक भी, समय से आक्रांत है तो इतिहास का अतिक्रमण करने का मिथक-बोध भी उसमें है। इन दोनों पाटों के बीच अंतर्द्वंद्व और इतिहास की इस जातीय विडंबना का दबाव हम जितनी तीव्रता से महसूस कर पाएँगे, उतना ही हमारी यह एडवेंचर प्रामाणिक, और अर्थपूर्ण हो सकेगा।

11. ऐतिहासिक उपन्यास

देवीशंकर अवस्थी

'उपन्यास' शब्द कहने मात्र से हिंदी का सामान्य पाठक एक विशेष प्रकार के साहित्य-रूप का बोध कर लेता है। वह उपन्यास पढ़ता है -- उसका विश्लेषण नहीं करता। परंतु प्रबुद्ध पाठक विवेचन-विश्लेषण करता हुआ उसमें विशेषण जोड़ता या संज्ञाएँ देता है। इसी क्रम में उपन्यास के जो अनेक रूप विश्लेषित हुए हैं, उनमें से एक ऐतिहासिक उपन्यास है – यानी कि उपन्यास तो अवश्य पर ऐतिहासिक विशेषण के साथ। इसी स्थल पर प्रश्न उठते हैं कि ये दोनों शब्द, इतिहास और उपन्यास, कहाँ तक संबंधित हैं, इनकी मर्यादाएँ क्या हैं तथा सीमा-रेखाएँ कहाँ मिटती हैं? कारण, यदि उपन्यास की एक सामान्य धारणा पाठक के मन में होती है तो इतिहास के स्वरूप का भी उसे पृथक् रूप में आभास रहता है। इतिहास मानवीय गतिविधि (Human activities) का वैसा ही एक प्रकार है जैसा कि समाजशास्त्र अथवा गणित-विज्ञान। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न और उठता है कि यदि मानवीय गतिविधि (Human activities) का एक प्रकार उपन्यास के साथ विशेषण के रूप में आ सकता है तो अन्य प्रकार क्यों नहीं आ सकते? दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ही दार्शनिक, समाजशास्त्रीय या गणित-विज्ञानीय उपन्यास क्यों नहीं हो सकते? परंतु एक निष्कर्ष की ओर संकेत अवश्य करना चाहूँगा : इतिहास उपन्यास के लिए अधिक सहायक है बजाय अन्य ज्ञान-विज्ञान के प्रकारों के, यदि ऐसा न हो तो अब तक मानव-बुद्धि ने इस क्षेत्र को यों ही न छोड़ दिया होता। दर्शन, समाजशास्त्र आदि की खोजों का उसने भरपूर उपयोग किया है, परंतु उससे

उपन्यास के आंतरिक रूप में ऐसा कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ सका कि उसे हम एक विशिष्ट रूप में 'ऐतिहासिक उपन्यास' की भाँति स्वीकार करने को बाध्य हो जाएँ। उपन्यासकार को इतिहास से कथावस्तु और चरित्र की प्राप्ति ही नहीं होती–उसमें किसी काल विशेष को वैचारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि-विषय (Phenomenon) का भी ज्ञान होता है, जब कि अन्य शास्त्र-शाखाएँ इतनी दिशाओं से सहायता नहीं दे पातीं।

इतिहास और उपन्यास की पारस्परिक स्थिति पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखनी है कि आधुनिक विज्ञान ने हमारे ज्ञान एवं कार्य की विविध दिशाओं को प्रभावित किया है–इतिहास और उपन्यास भी इस प्रभाव के अपवाद नहीं हैं।

यह बात संभवतः पाठकों को विरोधाभास-सी लगेगी कि आधुनिक जीवन की बौद्धिक आवश्यकताओं ने ही विज्ञान और उपन्यास (अथवा रसात्मक साहित्य) को अलग-अलग किया और बाद को उसने ही एक प्रकार का सा‍ञ्जास्य भी इनमें स्थापित किया। आज से 150-200 वर्ष पूर्व तक इतिहास और पुराण कोई अलग चीजें न थीं – महाभारत इतिहास भी था तथा पुराण एवं महाकाव्य भी। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही थोड़े दिन पूर्व तक 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता पर विवाद चलता रहा है। परंतु आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि ने इतिहास को विज्ञान की भाँति ही विशुद्ध वस्तुगत दृष्टि से कोरी तथ्यात्मकता तक पहुँचा दिया। जब एक बार इतिहास पुराण एवं किंवदंतियों के शैवाल से मुक्त होकर तटस्थ शुद्ध तथ्यों का भण्डार बना तो मनुष्य की व्यवस्था-परायण बुद्धि ने उसे एक सिस्टम का रूप दिया और फिर इस क्रम में सिस्टम की परख भी उसकी प्रयोगशील दृष्टि ने की। सार्थकता की परख के इस दौरान में इतिहास की अनेक व्याख्याएँ उपस्थित की गयीं, जिन्हें हम इतिहास-दर्शन के नाम से जानते हैं। धर्म और जाति की श्रेष्ठता, भाग्यवाद, महापुरुषवाद से प्रारंभ कर निकोलाई डैनिलेव्स्की, स्पेंग्लर के आवर्तवद, आर्नल्ड ट्वायनबी के लयात्मक-आरोह-अवरोहवादी विकास से लेकर मार्क्स (और कुछ हद तक सोरोकिन जैसे समाजशास्त्री भी) के रेखावादी विकास तक इतिहास की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। इन

विविध व्याख्याओं एवं दर्शनों ने हमारी विचार-प्रक्रिया को प्रभावित किया है। हमने अपने इतिहास को इन दर्शनों के आलोक में नये ढंग से देखना शुरू किया। अतीत का चित्रण भी इन नई दृष्टियों के आधार पर होने लगा और इसी बिंदु पर ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन शुरू होता है। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि जब इतिहास विशुद्ध **तथ्य** बना तो वह रसात्मक साहित्य से दूर हटा, पर जब उसने संस्कृतियों-सभ्यताओं एवं समाज के विकास पर दृष्टिपात शुरू किया तब उपन्यासकार (या अन्य लेखक भी) पुनः उसकी ओर गए।

यों प्राचीन आख्यानों की शरण में साहित्य बहुत दिनों से जाता रहा है – पर तब उद्देश्य दूसरा था : कथा प्रामाणिक हो, जनप्रिय हो, जिससे कि रसोद्‌बोधन में व्याघात उपस्थित न हो,–मनोविज्ञान की शब्दावली में 'स्टॉक रेस्पान्स' के लिए इतिहास की शरण ली जाती थी। 'नाटक ख्यातवृत्तं पंचसन्धि-समन्वितम्' में ख्यातवृत्तं का मूल कारण यही था – उस वृत्त की ख्याति के विरुद्ध जाना संभव न था – पर आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र या इतिहास ने इन वृत्तों की प्रामाणिक ख्याति को नष्ट कर दिया है। राम ही नहीं, रावण और मेघनाद भी साहित्यकार के प्रिय बने – यहीं नहीं, अज्ञात व्यक्ति भी इतिहास और समाज के मंतव्यों को व्यक्त करने का माध्यम बनने लगा। हरमैन हेस का 'सिद्धार्थ' अथवा यशपाल की 'अमिता' इस 'अख्यात वृत्त' के उदाहरण हैं। कारण यह है कि उपन्यास मात्र कथानक का स्रोत नहीं रहा – उसका सचेष्ट प्रयोग अब संभव हो सका है। उपन्यासकार, नाटककार, कवि आदि प्रसिद्ध चरित्रों एवं घटनाओं में दूसरे मंतव्य ढूंढ़ने लगे हैं। किसी पौराणिक चरित्र को विश्वसनीय घटनाओं के मध्य चित्रित करने के स्थान पर युग विशेष को उसकी व्यापक और प्रबल शक्तियों के साथ उपस्थित किया जाने लगा, या कि किसी प्रसिद्ध, अज्ञात या उपेक्षित चरित्र को उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं एवं मानसिक द्वंद्वों तथा बाह्य संघर्षों के साथ उपस्थित किया गया, अथवा फिर अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ा गया – प्रेरणा या उपदेश देने के लिए। इन सभी क्षेत्रों के रिकन्सट्रक्शन के लिए लेखकों की कल्पना को अमित विस्तार मिला।

इतिहास और उपन्यास के पारस्परिक संबंधों पर बहुत-से लोगों ने आपत्ति प्रकट की है। सर फ्रांसिस पालग्रेव नामक लेखक ने तो यहाँ तक कहा कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का शत्रु है और दूसरी ओर कथा का। ऐसे लोग मात्र यह सोचते हैं कि इतिहास केवल घटनाओं या व्यक्तियों का विवरण है तथा उपन्यास मात्र कल्पना का विलास। वे यह भूल जाते हैं कि इतिहास सारे राग-विरागों के साथ अतीत का यथार्थ है और उपन्यासकार सदैव यथार्थ को पकड़ता है, चाहे वह अतीत का हो या वर्तमान का। अतः इतिहास के क्षेत्र में जाना किसी मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। फिर क्या कोई इतिहासकार यह कहने का दावा कर सकता है कि उसने इतिहास के लिखने या जानने में कल्पना का रंचमात्र भी उपयोग नहीं किया है। वास्तव में कोई भी मानवीय क्रिया या व्यापार (Human activity) कल्पना के बिना संभव ही नही है – गणित भी नहीं। अतः यथार्थ-कल्पना के उपयोग को लेकर इतिहिस या उपन्यास में कोई तात्विक विरोध ज्ञात नहीं होता। तो क्या दोनों एक ही हैं? 'नहीं', इसका स्पष्ट उत्तर है। दोनों की रचना-प्रक्रिया एवं उपजीव्य श्रोताओं के अंतर दोनों क्रियाओं को अंतर को भी प्रकट करते हैं। इतिहास विवरण देता है, उपन्यास चित्रण करता है। चित्रण में चयन के आंतरिक मंतव्यों का नैरंतर्य होता है। इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है। उपन्यास का पाठक पढ़ते समय इतिहास की घटनाओं को नही जानना चाहता, नाम भी नहीं याद करना चाहता, वह तो चित्रित युग के आंतरिक मंतव्यों, उसके 'चेतना-प्रवाह' को जानना चाहता है और इस प्रकार इतिहास की बढ़ती हुई शक्तियों की अवगति नहीं, 'बिंब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस 'बिंब ग्रहण' की इकाई बनता है, जब कि इतिहास में घटना का विवरण उसके बोध की इकाई होता है। उपन्यास में इतिहास के इस 'बिंब ग्रहण' के कारण पाठक को जो आनंद (या और कुछ) मिलता है, उसे रविबाबू ने 'ऐतिहासिक रस' कहा है। उनका यह मंतव्य दृष्टव्य है, 'पृथ्वी में कुछ ऐसे लोगों का भी अभ्युदय होता है जिनका सुख-दुख संसार की बृहत् घटनाओं के साथ संबद्ध होता है। राज्यों का उत्थान-पतन, महाकाल की सुदूर की कार्य-परंपरा, जो समुद्र के गर्जन के साथ उठती और गिरती है–उसी महान कला संगीत के

स्वर में उनका व्यक्तिगत विराग और अनुराग बजा करता है।' ....यदि हम उन्हें व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं परंतु महाकाल के एक अंग के रूप में देखना चाहें तो हमें दूर खड़ा होना पड़ता है। अतीत के अंदर उनकी स्थापना करनी पड़ती है, वे जिस महान रंगभूमि के नायक थे उसको और उनको मिलाकर देखना पड़ता है। इस कथन के महापुरुषवादी स्वर को संशोधित कर कहा जा सकता है कि मुख्य बात यह 'महाकाल की सुदूर कार्य-परंपरा' यानी कि इतिहास-बोध ही है। महाकाल के रूप में महापुरुष ही नहीं, नगण्य व्यक्ति भी देखा जा सकता है। इस महाकाल अथवा इतिहास की कार्य-परंपरा की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यासकार का दायित्व है। एक लेखक की आत्मकथा के माध्यम से हर्षयुगीन भारत की समस्त कार्य-परंपरा की अभिव्यक्ति कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी दायित्व का पालन किया है। यहाँ यह बात फिर याद रखने की है कि दोनों एक नहीं हैं पर इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास के महाकाल-बोध के मूल मंतव्यों में तनिक भी विरोध नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के समीक्षण में उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जो व्यक्ति कहानी कहने के लिए केवल तथ्य इतिहास से चुनता है, उसकी विवेचना उन तथ्यों को ध्यान में रखकर करनी होगी और ऐसी ही स्थिति में हम किशोरीलाल गोस्वामी जैसे लोगों को अनैतिहासिक कह सकते हैं। ***अगर*** कोई महापुरुष चित्रित करना उद्देश्य रहा हो तब फिर उसके चरित्र की उदात्तता उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में देखी जानी चाहिए। जैसे कि सत्यकेतु विद्यालंकार ने हिंदी में 'आचार्य चाणक्य' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा पर तात्कालिक राजनीति के विश्रृंखल वातावरण में उसके क्रिया-कलाप का ऐसा चित्रण प्राप्त नहीं होता जिससे कि वह अपने समकालिकों का अगुआ घोषित किया जा सके। परिणामतः समस्त उपन्यास पढ़ जाने के बावजूद 'चाणक्य' का चरित्र हमें गहरे ढंग से प्रभावित नहीं कर पाता। इस कमी का कारण है–उपन्यास की विवरणात्मक परिपाटी। उपन्यासकार ने चरित्र की यूनिट को नहीं, विवरण की इकाई को स्वीकार किया है। यदि लेखक किसी युग-विशेष को 'रिकन्स्ट्रक्ट' कर रहा हो तो उस समय मूल आलोच्य वस्तु होगी उस युग का आंतरिक रूप। यदि युग के

आंरिक मंतव्यों को उपस्थित करने में लेखक सफल हुआ तो यदि कुछ घटनाएँ या चरित्र इतिहास के तथ्यों के अनुवर्ती न भी हों तब भी वह सफल कहा जाएगा। इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि युग के आंतरिक मंतव्य वेशभूषा, चालढाल और बाह्य वातावरण की अपेक्षा आंतरिक विचारधाराओं, इतिहास की विकासमान शक्तियों एवं उस युग के 'सोशल मोरस' (Social Mores) के संपूर्ण चित्रण पर अधिक आधारित होते हैं। कभी-कभी ये सारी बातें होते हुए भी वर्तमान जीवन की विचार-प्रक्रिया हमको इस तरह अभिभूत किए रहती है कि बहुधा प्राचीन पात्रों और घटनाओं से उसकी अभिव्यक्ति जाने-अनजाने हो जाती है–स्पष्टतः यह एक अनैतिहासिक तत्व है और ऐतिहासिक उपन्यास को कमजोर बनाने वाला है। हिंदी में राहुल सांकृत्यायन एवं यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यास इस कमजोरी के शिकार बने हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इसी कमजोरी के न होने के कारण अधिक शक्तिशाली रचना बन सकी है।

बहुधा व्यक्ति-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों में दो प्रकार के दोष आ जाते हैं : या तो तमाम घटना-जाल में उद्दिष्ट व्यक्ति अप्रमुख हो जाता है–क्योंकि इतिहास का चक्र किसी एक व्यक्ति के चलाए तो चलता नहीं है–अथवा फिर ऐसा उपन्यास अत्यधिक यांत्रिक हो उठता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'मृगनयनी' में पहला दोष है जिसमें मृगनयनी की अपेक्षा लाखी अधिक प्रमुख हो उठी है तथा 'झांसी की रानी' में यांत्रिकता का दोष आ गया है। चतुर उपन्यासकार इसी कारण दूसरे रास्ते अपनाते हैं। सुदूर इतिहास को अपनाने से अपने उद्दिष्ट चरित्र को अपेक्षाकृत महिमा दी जा सकती है क्योंकि वहाँ घटना के यथार्थ का बंधन नहीं होता। मुंशी का 'भगवान परशुराम' इसी कारण 'भगवान कौटिल्य' की अपेक्षा अधिक सफल बन पड़ा है। अधिक अलौकिक एवं काल्पनिक होते हुए भी वह अधिक यथार्थ लगता है। लिखित इतिहास से बाहर होने के कारण लोक-कथानकों एवं किंवदंतियों पर आधारित उपन्यास भी इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं। वर्मा जी के गढ़कुंडार', 'विराट की पद्मिनी' या 'कचनार' इसीलिए अधिक सफल हैं। किसी घटना या घटना-श्रृंखला पर लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास भी ऊपर

गिनाए दोषों से मुक्त होते हैं क्योंकि वहाँ पर घटना या घटना-श्रृंखला को उसके पूर्ण परिपाक तक पहुंचाने के लिए मददगार सारे चरित्र एवं कार्य-व्यापार प्रयोग में लाये जा सकते हैं एवं अधिक नाटकीयता की स्थापना भी की जा सकती है। मुंशी का 'पाटन का प्रमुख' अथवा गुजरात सीरीज़ के अन्य उपन्यास ऐसे ही हैं। इस प्रकार का लेखन लेखक से व्यापक ऐतिहासिक अनुशीलन की माँग करता है। इसके लिए आवश्यक होता है कि वह उन तमाम व्यक्तियों को पहचान सके जिन्होंने उस घटना की चरम परिणति में सहायता की है।

किसी अप्रमुख पात्र के माध्यम से एक संपूर्ण युग के पुनर्निर्माण (reconstruction) की पद्धति सर्वाधिक नवीन है। इसमें चरित्र-चित्रण के ऊपर कोई साहित्येतर अंकुश भी नहीं रहता है तथा ऐतिहासिक उपन्यास की मूल वस्तु – वातावरण निर्माण – पर अपेक्षित ध्यान दिया जा सकता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐतिहासिक उपन्यास की बड़ी शक्ति वातावरण की स्थापना में ही है। वातावरण से मेरा तात्पर्य बाहरी ही नहीं, आंतरिक मंतव्यों से भी है। तथा आंतरिक मंतव्यों तक पहुंचना तभी संभव है जब समाज की द्वंद्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध स्तरों की आंतरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे।

स्वतंत्रता के बाद इधर हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों (ऐतिहासिक कथानकों की ओर कहना अधिक युक्ति-संगत होगा!) की ओर लोगों का ध्यान गया है, परंतु अपवादों को छोड़कर बहुधा उनमें या तो रसीली कहानी कहने की प्रवृत्ति मिलती है या फिर एक प्रकार का पुनरुत्थानवाद (revivalism)। ऐतिहासिक काव्यों एवं नाटकों के क्षेत्र में इतिहास-दर्शन की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ है। नए ऐतिहारिक उपन्यासकारों से मेरा अनुरोध है कि वे इतिहास की गति और अतीत के मंतव्यों का अधिक सचेत बोध ग्रहण करें एवं करायें।